# नई कविता में सौन्दर्य-बोध
तथा
अन्य निबन्ध

# नयी कविता मे सौन्दर्य-बोध

तथा

# अन्य निबन्ध

डॉ गायत्री नाथ, एम०ए०, पी-एच०डी०

हिन्दी विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

रोशन लाल जैन एण्ड सन्स

[illegible] बाजार | चौड़ा रास्ता

[illegible] | जयपुर

प्रकाशक
रोशनलाल जैन एण्ड सन्स
जयपुर व अलवर

मूल्य चार रुपया

प्रथम संस्करण
१९६२

मुद्रक
जयपुर प्रिंटर्स जयपुर

# आमुख

प्रस्तुत पुस्तक मेरे समय-समय पर लिखे निबंधों का संकलन है। अधिकांश निबंध साहित्य और समाज की युगीन प्रवृत्तियों से संबंधित हैं। अभी हाल में हुए भाषा आन्दोलन पर भी दो निबंध इसमें संकलित हैं। साहित्य के विद्यार्थी के सामान्य ज्ञान के लिए हिन्दी कविता के विकास क्रम शीर्षक से निबंध में प्राचीन युग से आज तक के काव्य साहित्य की सामान्य विशेषताओं और प्रवृत्तियों का सूक्ष्म किन्तु रोचक वर्णन किया गया है। पाठकों को निबंधों के प्रस्तुतीकरण में मौलिकता और कुछ नवीनता मिलेगी ऐसा मेरा विश्वास है। प्रत्येक विषय में मेरी अपनी कुछ मान्यतायें और सिद्धान्त रहे हैं, सम्भव है पाठक-गण उनसे सहमत न हों किन्तु मैंने जिस प्रकार सोचा वही आपके सामने प्रस्तुत है।

इन निबंधों में से कुछ निबंध आकाशवाणी के जयपुर केन्द्र से प्रसारित हो चुके हैं। आकाशवाणी के अधिकारियों ने इन्हें प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की इसके लिये मैं उनकी अत्यन्त आभारी हूँ।

जयपुर,
बुद्ध पूर्णिमा १९६५ गायत्री वैश्य

# क्रम

# काव्य का आधार एवं प्रयोजन

काव्य मानव हृदय के गंभीर विचारों और सुन्दर अनुभवों की अभिव्यक्ति है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य जीवन और जगत् के जिन अनुभवों और प्रभावों का संचय अपने अन्तःकरण में करता रहता है कालान्तर में उसकी अभिव्यक्ति ही काव्य का आधार बनती है। सुख और दुःख प्रेम और घृणा भय और विषाद के भावना को मनुष्य की कोई शक्ति अपने अन्तरतम में समाहित नहीं कर पाती। मानव अभिव्यक्ति के विविध साधनों द्वारा उन्हें दूसरों पर प्रकट करके ही शान्ति और सन्तोष अनुभव करता है। नाना प्रकार की मूर्तियाँ चित्र और शब्द मनुष्य हृदय की अभिव्यक्ति के प्रतिरूप हैं। सभ्यता के आदि काल में जब कि मनुष्य को भाषा और वाणी का वरदान नहीं प्राप्त हुआ था वह अपने हृदयगत भावों और विचारों को संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त करता था। प्रकृति के किसी आह्लादक रूप को देखकर वह हर्ष में नाच उठता था। सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश और चन्द्रमा की स्निग्ध चाँदनी उसे विस्मय विमुग्ध कर देती थी। बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की चमक उसे भय और शंका से भर देती थी। इन विविध भावों का आभास मनुष्य संकेतों द्वारा दूसरों को करा देता था। नवजात शिशु वाणी द्वारा भावों को प्रकट करने में असमर्थ होने के कारण हँस कर अपना संतोष और रोकर अपनी क्षुधा या अन्य कष्ट प्रकट कर देता है। तात्पर्य यह कि अपने भावों की अभिव्यक्ति मानव मात्र का प्राकृतिक गुण है। अभिव्यक्ति की मानव सुलभ प्रवृत्ति की ओर संकेत में दिनकर सुन्दर अभिव्यक्ति की है —

> विज्ञान को दिया नया विराट संसार में मान
> मगर अभिव्यक्ति की आतुर भूख तृष्णा नहीं जाती।

# काव्य का आधार एवं प्रयोजन

काव्य मानव हृदय के गंभीर विचारों और सुन्दर अनुभवों की अभिव्यक्ति है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य जीवन और जगत् के जिन अनुभवों और प्रभावों का संचय अपने अन्तःकरण में करता रहता है कालान्तर में उनकी अभिव्यक्ति ही काव्य का आधार बनती है। सुख और दुःख, प्रेम और घृणा, हर्ष और विषाद के भावों को मनुष्य की कोई शक्ति अपने अन्तरतम में समाहित नहीं कर पाती। मानव अभिव्यक्ति के विविध माध्यमों द्वारा उन्हें दूसरों पर प्रकट करके ही शान्ति और सन्तोष अनुभव करता है। नाना प्रकार की मूर्तियाँ चित्र और सकल मनुष्य हृदय की अभिव्यक्ति के प्रतिरूप हैं। सभ्यता के आदि काल में जब कि मनुष्य को भाषा और वाणी का वरदान नहीं प्राप्त हुआ था वह अपने हृदयगत भावों और विचारों का संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त करता था। प्रकृति के किसी आह्लादक दृश्य को देखकर वह हर्ष से नाच उठता था। सूर्य का उत्तम प्रकाश और चन्द्रमा की स्निग्ध चाँदनी उसे विस्मय विमुग्ध कर देती थी। बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की चमक उसे भय और शंका से भर देती थी। इन विविध भावों का आभास मनुष्य संकेतों द्वारा दूसरों को करा देता था। अबोध शिशु वाणी द्वारा भावों को प्रकट करने में असमर्थ होने के कारण हँस कर अथवा रूठकर और रोकर अपनी घृणा या भय स्पष्ट प्रकट कर देता है। तात्पर्य यह कि अपने भावों की अभिव्यक्ति मानव मात्र का प्राकृतिक गुण है। अभिव्यक्ति की मानव सुलभ प्रवृत्ति की कवि बच्चन ने कितनी सुन्दर अभिव्यंजना की है —

> छिपाने का किया मना किसने संसार से भागा
> मगर अभिव्यक्ति की मानव सुलभ तृष्णा नहीं जाती।

मनुष्य की यही प्रवृत्ति काव्य का मूल आधार है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की भावना मनुष्य को काव्य सृष्टि के लिए प्रेरित करती है।

काव्य के उद्गम की उक्त मान्यता से यह संशय होता है कि यदि काव्य मानव हृदय के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति मात्र है तो प्रत्येक विचारशील और अनुभवी व्यक्ति को कवि और साहित्यकार होना चाहिए किन्तु विश्व में इसके विपरीत दिखाई देता है। जगत् के भाव समान रूप से प्रत्येक मनुष्य को प्रभावित करते हैं और उनकी अभिव्यक्ति की इच्छा भी अन्तर में विद्यमान रहती है किन्तु हम देखते हैं कि कुछ गिने चुने व्यक्ति ही कवि पद को सुशोभित कर पाते हैं। निषाद के बाण से क्रौंच पक्षी का मरना और क्रौंची को तड़पते वाल्मीकि के अतिरिक्त और किसी ने भी देखा होगा स्वयं निषाद ने देखा होगा किन्तु वाल्मीकि के मुख से ही —

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वतीसमा ।
यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

की काव्यमयी उक्ति उद्गीर्ण हुई। सत्य यह है कि भाव और विचार प्रत्येक मानव में विद्यमान होते हुए भी अनुभूति की तीव्रता और सहृदयता और संवेदना सबको समान मात्रा में प्राप्त नहीं होती और न भावों के वेग को उसी रूप में दूसरों पर प्रकट करने की क्षमता सबको प्राप्त है। कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति ही अपने अनुभूत भावों को रसमयी वाणी में प्रकट करने में समर्थ होते हैं। भावों पर सबका समान अधिकार होने पर भी कवि या कलाकार ही उन्हें इस प्रकार उपस्थित कर पाते हैं कि वे न केवल कवि आत्मा को तृप्ति देते हैं अपितु मानव मात्र के हृदय को समान रूप से आह्लादित करते हैं। कवि और सामान्य मनुष्य में यही अन्तर है। विचार गाम्भीर्य अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की क्षमता काव्य के आवश्यक अंग हैं। यदि कोई मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति द्वारा अपने पाठकों को उन्हीं भावों से अनुप्राणित

कर पाता है जिससे वह स्वयं प्रभावित है तो वही प्रकृत कवि है और वही सच्ची कविता है।[1]

यद्यपि भावों की अभिव्यक्ति ही काव्य का आधार है किन्तु सब प्रकार का कूड़ा कचरा काव्य की सीमा में नहीं आता, उसके कुछ निर्धारित नियम हैं जिनके अनुसार अभिव्यक्ति होने पर ही सहृदय लोग उसे काव्य की कोटि में परिगणित करते हैं। ये नियम-निर्धारण ही काव्य के लक्षण कहलाते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के लक्षण प्रतिपादित करते हुए रसात्मकता को काव्य का अनिवार्य गुण माना है[2]। उनके अनुसार कोई भी ऐसी रसमयी उक्ति काव्य का रूप धारण कर सकती है जिसमें मानव हृदय को आप्लावित करने की क्षमता हो। 'रस गंगाधर' कार पंडितराज जगन्नाथ ने भी रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य की कोटि में गिना है। काव्यमय होने के लिए अभिव्यक्ति का रमणीय होना आवश्यक है। जिन शब्दों से हृदय में आनन्द अनुभव हो वही काव्य है। कुछ विद्वानों ने काव्य में अलंकार और भाषा सौन्दर्य पर अधिक बल दिया है किन्तु अलंकार और सजी हुई भाषा काव्य के शरीर हो सकते हैं आत्मा नहीं। अनुभूति की सच्चाई से काव्य में रमणीयता स्वतः आ जाती है उसे चमत्कारों और भाषा सौन्दर्य की उतनी आवश्यकता नहीं होती। कवि के शब्दों में —

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवे कामरी का लै करै कमाच॥

साधारण से साधारण वाक्य यदि वह हृदय की गहराई से उद्भूत है तो मानव मन को आकर्षित करने के लिये पर्याप्त है उसे अन्य किसी

---

१ All are poet if they have the power so to make the words to an entire mental experience that its similar is aroused in their readers. By virtue of that power alone they are 'pure poet' and their word 'pure poetry'.

Essay on Pure Poetry by J. Middleton Murry

२ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—साहित्यदर्पण

साधन की आवश्यकता नहीं। कविवर पंत ने यही बात काव्यमय भाषा में इस प्रकार कही है —

तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार।

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के लिए भावना तत्व, कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और शैली इन चार तत्वों को आवश्यक माना है। यद्यपि ये चारों तत्व काव्य के आवश्यक उपकरण हैं किन्तु जब इनमें से किसी एक की प्रधानता काव्य में हो जाती है तो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति का समान महत्व है। अनुभूति में भाव और बुद्धि तथा अभिव्यक्ति में शैली और कल्पना का समावेश हो जाता है। जिसके हृदय की अनुभूति जितनी ही तीव्र होगी उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही आह्लादक रमणीय और सुन्दर होगी।

आधुनिक समालोचना में कई विद्वान् काव्य में कवि हृदय की अनुभूति अर्थात् भावना को कोई महत्व नहीं देते। डा० देवराज के मत में साहित्य मात्र किसी भीतरी वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं होता बाह्य संसार के आकर्षण ही काव्य की उत्पत्ति के कारण हैं। वे कहते हैं कि "यदि साहित्य मात्र मेरे भीतरी भावों मनोदशाओं अथवा स्थायी भावों की अभिव्यक्ति है तो यह स्पष्ट है कि मुझे साहित्य सृष्टि के लिये अपने बाह्य संसार से संपृक्त होने की, इन अपने चारों ओर के स्त्री-पुरुषों तथा खेल तमाशे से उसमें अभिव्यक्ति देने की कोई जरूरत नहीं।"[1]

यह ठीक है कि कवि बाह्य संसार में जो कुछ देखता है जो कुछ अनुभव करता है, उसी को आधार बनाकर काव्य की सृष्टि करता है। देश काल की परिस्थितियां अनिवार्य रूप से कवि को प्रभावित करती हैं किन्तु केवल बाह्य आकर्षण या बाह्य परिस्थितियां काव्य का आधार नहीं बन सकतीं। कवि बाह्य रूपों से प्रभावित होकर भी अपने

१ साहित्य चिन्ता

हृदय का रस उसमें मिलाता है। संसार के विभिन्न दृश्य उसके हृदय में एक नवीन विश्व की रचना कर देते हैं। वह अपनी कल्पना सृष्टि के सहारे संसार की छोटी से छोटी वस्तु और बड़ी से बड़ी समस्या को हस्तामलकवत् देखता है। वह संसार की यथार्थता को अपनी आत्मा के रस से मिश्रित कर ऐसा बना देता है कि न केवल उसकी आत्मा अपितु विश्व की आत्मा उसमें लीन होकर आनन्द का अनुभव करती है। प्रकृति के जड़ पदार्थ कवि की दृष्टि में पहुँचकर एक अलौकिक सृष्टि की रचना कर देते हैं पत्थर में प्रियतम के दर्शन होते हैं –

पत्थर के टुकड़ों में भी तो मिलता प्रियतम का आभास।
उठा हृदय पर रख लेता हूँ करता रहे जगत् उपहास।।
– प्रसाद

कवि की सूक्ष्म दृष्टि ओस की बूँदों में अश्रुकण की झलक पाती है। उसे आकाश में झिलमिलाते तारे मौन संकेत करते प्रतीत होते हैं। विद्युत् का सहसा चमकना और छिपना आँखमिचौनी के खेल-सा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि बाह्य प्रकृति कवि के अन्तस्तल की सहृदयता और सरसता में अनुस्यूत होकर एक निराली दुनिया बना लेती है और वही अभिव्यक्त होकर काव्य का आकार बनती है। अतः यह कहना कि काव्य में बाह्य आवेष्टनों का ही महत्व है – हृदय और अनुभूतियों का नहीं – काव्य को विज्ञान और तात्त्विक दृष्टि से तौलना है। केवल बाह्य सृष्टि का वर्णन करने वाला व्यक्ति वैज्ञानिक इतिहासकार या तत्त्ववेत्ता हो सकता है कवि नहीं। कवि के लिये अन्तर और बाह्य ( भाव और वस्तु ) दोनों के समन्वय की साधना आवश्यक है। कोरी कल्पनात्मक रचना बुद्धि को आकर्षित नहीं करती और कोरे यथार्थ वर्णन में हृदय का रागात्मक अभाव खटकता है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "केवल बाहरी दृष्टियों से रचकर कला के निर्जीव चौखटे में मढ़कर जो कुछ संसार का दिया जाता है उससे मनोविनोद तो अवश्य हो सकता है किन्तु हृदय

की पहली नहीं सूझती। बाह्य संसार को देखकर उसपर कवित्व का निर्मल रंग चढ़ाने वाला ही प्रकृत कवि है" ।[1]

वस्तु जगत् विचारों और स्थूल अनुभवों को जन्म देता है और अन्तर्जगत् भावों और अनुभूतियों की सूक्ष्म उद्भावना करता है। इन दोनों के यथार्थ समन्वय द्वारा कवि की कोई सृष्टि काव्य का रूप धारण करती है। काव्य के लिये दोनों का समान महत्व है। जिस युग में इन दोनों में से किसी एक की प्रधानता हो जाती है तब काव्य अपने वास्तविक अर्थ को छोड़ देता है। रीतिकालीन कवियों ने आश्रयदाताओं की निम्न वृत्तियों को तृप्त करने के लिये भाव अनुभावों के विचित्र विचित्र जाल स्थान और रूपक खड़े किये उन्होंने यथार्थ जगत् की ओर ध्यान नहीं दिया फलस्वरूप उनकी कविता कुछ इन्द्रिय लोलुप विलासी लोगों का ही मनोरंजन कर सकी साधारण जनता को उसमें कोई आकर्षण न मिला। इसी प्रकार द्विवेदी युग के काव्य में इतिवृत्तात्मकता का आधिक्य हुआ तो रहस्यवाद-छायावाद के रूप में उसका विरोध प्रारंभ हुआ। छायावाद में स्थूल के विपरीत सूक्ष्म अतिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति हुई। इसमें अन्त: प्रवृतियों का प्रकाशन मात्र कवियों का लक्ष्य रहा। जिसके विरोधस्वरूप काव्य में प्रगतिवाद ने जन्म लिया जिसका अधिकांश भाग रोटी और भूख की समस्या में उलझा हुआ है। इस प्रकार जब जब काव्य में किसी एक पक्ष का प्राधान्य हुआ तुरन्त उसकी प्रतिक्रिया में दूसरे प्रकार की रचनाएँ प्रारम्भ हो गई।

अत: बाह्यजगत् का आवेष्टन मात्र काव्य की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। काव्य का प्रधान विषय भाव है उसमें ज्ञान की अपेक्षा भाव की प्रधानता रहती है। विज्ञान दर्शन गणित आदि शास्त्र शुद्ध ज्ञान के विषय है, और काव्य के विषय भाव हैं। काव्य अपने शुद्ध रूप में मानव हृदय की उपज है उसमें जीवन और जगत् की अनुभूतियों की

---

१ कवि और काव्य

मार्मिक व्यंजना की जाती है अतः उसका आधार न बाह्यजगत् का अन्वेषण है न आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था और न फ्रायड महोदय के स्वप्न तथा मनोविज्ञान पर आधारित सिद्धांत। यह तो केवल भाव भूमि पर आधारित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'मनुष्य जाति के बीच कविता हृदय के भावों को लेकर ही उठी है प्रेम उत्साह आश्चर्य करुणा आदि की व्यंजना के लिये ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कण्ठ खोला था तब से आज तक संसार की प्रत्येक कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह बसती चली आयी है। काव्य में भाव के आलम्बन रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है और किसी रूप में नहीं।'[1]

काव्य का प्रयोजन – भावभूमि पर आधारित होने के कारण काव्य का चरम लक्ष्य मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियों का विस्तार और मनोवृत्तियों का परिशोधन करना है। मानव हृदय स्वयं एक रहस्य है। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अपने समय और परिस्थिति के अनुसार विविध भावों का संचय होता रहता है। एक ही काल में जन्म लेने वाले मनुष्यों के भाव परस्पर भिन्नता रखते हैं। काव्य में इन्हीं विविध भावों की एक विचित्र किन्तु आकर्षक प्रदर्शनी सी उपस्थित रहती है। इसके द्वारा मनुष्य एक दूसरे के हृदय और विचारों से अवगत होता है। काव्य वह साधन है जिससे भिन्न-भिन्न मानव हृदयों में पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र स्थापित होता है– इस प्रकार काव्य का परम उद्देश्य सर्व भूत को आत्मभूत और आत्मभूत को सर्व भूत बनाना है। काव्य द्वारा मनुष्य न केवल मनुष्य हृदय का परिचय प्राप्त करता है अपितु संपूर्ण चराचर जगत् के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। शुक्लजी ने काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। जीवन और

१ चिन्तामणि–द्वितीय भाग "काव्य में अभिव्यंजनावाद"।

कला स्वतः साध्य है उसका कोई प्रयोजन नहीं है। जिस प्रकार हम मनुष्य की सुन्दरता देखकर मोहित होते हैं चन्द्रमा की शीतलता और स्निग्धता पर मुग्ध होते हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य का सौन्दर्य स्वतः साध्य है उससे किसी मानवीय उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। इस सिद्धांत के प्रमुख अनुयायी श्री इलाचन्द्र जोशी का कथन है कि 'कला का मूल आनन्द है, आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। प्रत्येक ग्रंथ की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।' कुछ पश्चिमी आलोचकों का भी यही मत है। आस्कर वाइल्ड का कहना है कि सौन्दर्य की प्रतिमा कला स्वयं आनन्ददायिनी होती है और कला में यही आनन्द अपेक्षित है और कुछ नहीं। कुछ लोग तुलसीदास की 'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' की उक्ति के आधार पर कला का प्रयोजन जनजीवन और समाज से संबंधित न मानकर केवल स्वान्त:सुखाय मानते हैं। उनके विचार कलाकार के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह काव्य द्वारा जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाले और बैठकर यह विचार करे कि किस प्रकार उसकी कृति द्वारा अधिकाधिक मानवहित का सम्पादन हो।

उपर्युक्त मत के ठीक विपरीत काव्य को साधन रूप में मानने वाले विद्वानों का मत है। उनके अनुसार काव्य का उदय मानवजीवन से है अतः उसमें प्रयोजन का होना आवश्यक है। मनुष्य कोई कार्य बिना उद्देश्य के नहीं करता फिर काव्य जैसी उच्च वस्तु का उदय क्या निष्प्रयोजन हो सकता है? काव्य हमें आनन्द प्रदान करता है, हमारा मनोरंजन करता है किन्तु इसके अतिरिक्त काव्य का उद्देश्य और अधिक महान् और महत्व पूर्ण है। काव्य मानव समाज की वस्तु है। मनुष्य की अनुभूतियाँ और विचारधारायें ही उसमें अभिव्यक्ति पाती हैं। अतः मानव

जीवन से परे काव्य का कोई अस्तित्व नहीं है। मानव की सृष्टि उद्देश्यहीन नहीं हो सकती अतः काव्य का मनुष्य समाज के लिए उपयोगी होना आवश्यक है। गुप्तजी ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है –

मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

श्री प्रेमचंद ने कला का प्रयोजन बताते हुए कहा है "साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में इसकी बदौलत मनका संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है"। श्री गुलाबराय डा० श्याम सुन्दर दास डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान् आलोचक इसी मत के हैं। ये लोग मानते हैं कि काव्य मानव समाज की वस्तु है। मनुष्य की अनुभूतियाँ और विचार श्रेणियाँ ही उसमें अभिव्यक्ति पाती हैं। अतः मानवजीवन से परे काव्य का कोई अस्तित्व नहीं। प्रसिद्ध समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है। हडसन के अनुसार Poetry is made out of life, belongs to life, exists for life.

निस्संदेह कला मनुष्य की सौन्दर्य वृत्ति को पुष्ट करके उसे आनन्द प्रदान करती है किन्तु आनन्द स्वयं प्रयोजन रहित नहीं होता। सुन्दर के प्रति आकर्षण मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य ही क्या हम देखते हैं पशु पक्षी तक सौन्दर्य प्रेमी होते हैं। मेघों के मधुर रव पर मयूर हर्ष विभोर हो नाचने लगता है। वीणा की ध्वनि पर कुरंग सुधबुध बिसार बैठता है। बांसुरी की आवाज से कुण्डलित सर्प सिर हिलाने लगता है। वसन्त की सुषमा में कोकिल कूकने लगती है। अतः सौन्दर्ययुक्त वस्तुओं से मनुष्य का आह्लादित होना अस्वाभाविक नहीं किन्तु इस आह्लाद का जीवन में एक विशिष्ट महत्व है। यह प्रयोजन रहित नहीं। हृदय का आनन्द मनुष्य के स्वभाव को मधुर और सरस बनाता है। जीवन में सुख प्राप्त न करने वाले या सुखी न रहने वाले

तब उसका मूल्य कम हो जाता है। ऐसे काव्य में मानवता का व्यापक स्वरूप समाहित नहीं हो पाता अतः इसकी जड़ें भी बहुत गहरी नहीं होतीं।

काव्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध है। संसार में रहकर कवि जो कुछ देखता सुनता और अनुभव करता है वही कल्पना में आकर उसे काव्य सृष्टि के लिये प्रेरित करते हैं। अतः कोई काव्य जीवन निरपेक्ष हो भी कैसे सकता है? "कला और जीवन का संबंध अन्तर और बाह्य का है। जो कुछ भी बाह्य है वह अन्तर में समा सकता है और जो अन्तर है वह बाह्य के माध्यम से ही निर्मित हुआ है। हमारे अन्तर्जगत् की सभी भावनाएँ इसी बाह्य जगत् की प्रेरणा से बनी हैं। इस प्रकार कला और जीवन में किसी प्रकार के विच्छेद की संभावना नहीं रह जाती।"[१] जब कलाकार जीवन की अनुभूतियों को हृदय रस से सींचकर काव्य का स्वरूप प्रदान करता है तो वह निरर्थक नहीं हो सकता है। उसका प्रयोजन है आत्मानुभूति का विस्तार जिससे मानव जीवन सरस और आनन्दमय बनता है।

---

१ गंगाप्रसाद पाण्डेय

व्यक्ति प्रायः चिड़चिड़े और उग्र स्वभाव वाले देखे गये हैं। इस दृष्टि से शुद्ध आनन्द में भी कोई न कोई प्रयोजन अवश्य अन्तर्निहित रहता है। 'कला कला के लिये' के सिद्धांत की विवेचना करते हुए डॉ॰ श्याम सुन्दर दास ने लिखा है "यदि कलाओं का काम केवल आनन्द देना है तो भी वे उस असाधारण आनन्द को उत्पन्न करके हमारी भावनाओं को पारिष्कृत और संस्कृत कर देती हैं। और यदि वे इस प्रकार हमारी भावनाओं को पुष्ट और संस्कृत बनाती तथा हमारी कल्पना शक्ति को तीव्र करती हैं तो हम उन्हें उपादेयता युक्त न कहकर और क्या कहेंगे?"[1] इसी प्रकार के विचार श्री प्रेमचंद के हैं। वे काव्य को निरुद्देश्य और स्वयं साध्य नहीं मानते। उनका मत है कि साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है और उसका उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता बढ़ाना है।[2] काव्य को शुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से देखने वालों से उनका कहना है कि निःसन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलु न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता युक्त वस्तु है।[3]

इस दृष्टिकोण से कला के सौन्दर्य स्वरूप में कोई बाधा नहीं पड़ती। अन्तर केवल इतना ही है कि एक ओर जीवन निरपेक्ष सौन्दर्य है और दूसरी ओर जीवन सापेक्ष।

जीवन सापेक्षता में कला का सौन्दर्य अधिक स्थायी और उपयोगी हो सकता है। जीवन से रहित केवल सौन्दर्य सुन्दर शव के समान है जो आकर्षक की अपेक्षा भयावह अधिक है। जब काव्य अपना मूल आधार मानव के हृदय और भावों को न बनाकर कोरी कल्पना को बनाता है

१ साहित्यालोचन
२ कुछ विचार
३ ,,

तब उसका मूल्य कम हो जाता है। ऐसे काव्य में मानवता का व्यापक स्वरूप समाहित नहीं हो पाता अतः उसकी जड़ें भी बहुत गहरी नहीं होतीं।

काव्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध है। संसार में रहकर कवि जो कुछ देखता सुनता और अनुभव करता है वही कल्पना में आकर उसे काव्य सृष्टि के लिये प्रेरित करते हैं। अतः कोई काव्य जीवन निरपेक्ष हो भी कैसे सकता है? "कला और जीवन का संबंध अन्तर और बाह्य का है। जो कुछ भी बाह्य है वह अन्तर में समा सकता है और जो अन्तर है वह बाह्य के माध्यम से ही निर्मित हुआ है। हमारे अन्तर्जगत् की सभी भावनाएँ इसी बाह्य जगत् की प्रेरणा से बनी हैं। इस प्रकार कला और जीवन में किसी प्रकार के विच्छेद की संभावना नहीं रह जाती।"[1] जब कलाकार जीवन की अनुभूतियों को हृदय रस से सींचकर काव्य का स्वरूप प्रदान करता है तो वह निरुद्देश्य नहीं हो सकता है। उसका प्रयोजन है आत्मानुभूति का विस्तार जिससे मानव जीवन सरस और आनन्दमय बनता है।

---

१ गंगाप्रसाद पाण्डेय

# 'आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज'

साहित्य में सामाजिक जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख विशेषता है। यूं तो साहित्य और समाज का पारस्परिक संबंध शाश्वत है साहित्य समाज को प्रेरणा व आनन्द प्रदान करता है और समाज विभिन्न परिस्थितियों से साहित्य को प्रभावित करता है परन्तु साहित्य में किसी युग विशेष की सम्पूर्ण मनोवृत्तियां इतने स्पष्ट रूप में जितनी कि हम आधुनिक हिन्दी काव्य में पाते हैं मिलना बड़ा कठिन है। हिन्दी के वीरगाथा-काल भक्तिकाल तथा रीतिकाल के काव्य मे समाज के किसी एक पक्ष की प्रधानता है। वीरगाथा काल म और सामंती जीवन के चित्र हैं, सामान्य जन जीवन की ओर कवियों ने आंख उठाने का भी प्रयत्न नहीं किया। भक्तिकाल का अधिकांश काव्य स्वान्तः सुखाय तथा रीतिकाल का काव्य प्राय धन-हिताय लिखा गया है। ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि प्रथम ( भक्तिकाल ) में समाज से अतिशय विरक्ति तथा द्वितीय ( रीतिकाल ) में हीन आसक्ति का प्राधान्य हो।

बहुजन-हिताय काव्य का निर्माण तथा उसमें समाज की बदलती हुई विचार धाराओं का विश्लेषण व विवेचन आधुनिक युग के काव्य साहित्य की बड़ी भारी देन है।

पिछले सौ वर्षों की समाज सरिता में विभिन्न प्रकार की जितनी भी साहित्यिक सामाजिक राजनैतिक धार्मिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक तरंगों का आवर्तन हुआ उन सबका अवलोकन हमें आधुनिक काव्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस युग का कवि जन-जीवन से इतना संपृक्त रहा है कि वह समाज की प्रत्येक समस्या को बड़े आत्मीय ढंग से सोच-विचार सका है।

प्रथम स्वाधीनता संग्राम ( १८५७ ई० ) के पश्चात् भारतीय पराधीनता चरमागति की सीमा तक पहुंच गई थी। सदियों से एक के अनन्तर दूसरे शासकों की दासता शृंखला में बँधा हुआ भारत अपनी समस्त विभूतियों से हाथ धो बैठा था शेष थी केवल रूढ़ियाँ अन्ध परम्परायें अशिक्षा और अज्ञान की सर्वग्रासी ज्वालायें।

ऐसे ही समय में भाग्य अथवा दुर्भाग्य से देश में विक्टोरिया का शासन प्रारम्भ हुआ। विदेशी सभ्यता तथा विज्ञान का नवीन प्रकाश हुआ। देश में धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के प्रणेता महात्माओं का आविर्भाव हुआ। क्रमशः सर्वत्र जागृति की किरणें विकसित होने लगी।

देश की उपर्युक्त अवनत तथा उन्नत दशा के मिले जुले स्वर हमें आधुनिक हिन्दी काव्य म सुनाई देते हैं। देश की तत्कालीन अधोगति का चित्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इन पंक्तियों में अंकित है —

> गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई।
> बुद्धि वीरता श्री उछाह सूरता बिलाई॥
> आलस कायर पनो निरुद्यमता अब छाई।
> रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई॥
> सब बिधि नासी भारत प्रजा कहूँ न रह्यो अवलंब अब।
> जागो जागो करुणा अयन फेरि जागिहौ नाथ कब?

जिस भारत भूमि में कभी धन धान्य की बहुलता शिल्प कला कौशल की पूर्णता थी उसी देश के लोगों को भीख माँगते देखकर कवियों का हृदय वेदना से तड़प उठा है। पं० अम्बिकादत्त व्यास देश म व्याप्त अन्धकार से घबराकर निराशा में प्राण छोड़ने तक को उद्यत हैं —

> हाय। हाय। नहिं लख्यो जात हम पै अब भारत।
> तजि है हिय मति प्रान यहै हिय निश्चय धारत।

कवि की यह घबराहट उसकी उत्कट जन हित की भावना से उद्भूत है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हृदय की ऐसी ही व्याकुलता में समस्त

देशवासियों को अपनी दुरवस्था पर आँसू बहाने के लिये आमंत्रित किया था। देश के विगत वैभव की तुलना में वर्तमान समाज की निपट अधोगति देखकर कवियों की निराशा स्वाभाविक थी।

भारत में विक्टोरिया का राज्य प्रारंभ होने के पश्चात् समाज में हर्ष की एक लहर सी दौड़ गई थी। विविध वैज्ञानिक साधनों से देश की स्थिति में सुधार होते देख जनता फूली न समाई। स्थान स्थान पर पाठशालाओं चिकित्सालयों डाक व तार घरों की सुन्दर व्यवस्था अंग्रेजी राज्य की विभूति थी फलतः हिन्दी कवि अंग्रेजी राज्य का स्वागत करते हुए गा उठे –

अमल राज्य अंग्रेजी देखहु भारत भूमि मझारी।
अभय राज्य को अभय नाहिं जिहि भारत किया दुखारी॥

विक्टोरिया की प्रशंसा में कितनी ही प्रशस्तियाँ लिखी गई। परन्तु उस हर्ष और प्रशंसा में भी एक चिन्ता रेखा समाज के मानस को व्यथित कर रही थी। आर्थिक संकट तथा विदेशी सभ्यता की आँधी समाज पर बुरी तरह छाती जा रही थी। अंग्रेजी शासन की वैज्ञानिक सुख सुविधाओं पर मुग्ध देशवासियों ने उन्हीं को उन्नति का परम प्रतीक समझ अतः प्रत्येक क्षेत्र में उनका अन्धानुकरण हुआ। रहन-सहन और खान पान से लेकर बोलचाल पढ़ाई-लिखाई, भाषा साहित्य सभी पर अंग्रेजी रंग छा गया। धोती के स्थान पर बिस्कुट बोती के स्थान पर पैन्ट पर के बदले होटल और मातृभाषा के स्थान पर अंग्रेजी के बोले जाते फिरते देख कवियों का हृदय भावी अनिष्ट की आशंका से काँप उठा। उन्होंने व्यंग्य हास्य आक्षेप उपदेशों द्वारा समाज को सचेत किया। अंग्रेजी भाषी लोगों से उन्होंने विनय की –

"प्यारे हो के हिन्दुस्तानी बाबू अंग्रेजी मत बोल"

और पैन्ट धारियों को उन्होंने समझाया –

"सोहे न तोको पतलून साँवर गोरवा।"

नवशिक्षित पुरुषतियों के नवीन चालचलन पर 'सभ्य बीबी की चिट्ठी' द्वारा व्यंग्य किया। और नवीन फैशन की इच्छुक नारियों पर "सैयाँ फिरंगिन बनाय नाही देख्यौ" के हास्यमय गीत लिखे।

इस प्रकार समाज के नव जागरण काल में एक ओर कवियों ने देश को नई आँखों से सचेत किया और दूसरी ओर पुरातन सभ्यता के जर्जर खण्डहरों को गिराकर नये आदर्शों के लिए भूमि तैयार की। धार्मिक पाखंड, जाति-पाँति बाल-विवाह, पर्दा अशिक्षा आदि कुरीतियों को समाज से दूर करने के लिये कवियों ने कविता के साथ अनेक नाटकों की भी रचना की।

सामाजिक जीवन के दूसरे पक्ष भी कवियों की दृष्टि से ओझल नहीं रहे हैं। आर्थिक विषमताएँ तथा राजनैतिक जीवन की कटुताएँ निरन्तर उनके समक्ष समस्या बनकर खड़ी रही हैं। अंग्रेजी राज्य में लागू होने वाले विविध टैक्स चुंगी और करों के भार से पिसी हुई जनता की करुण आहों तथा 'आर्म्स एक्ट' 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' आदि राजनैतिक बन्धनों से जकड़ी पराधीन आत्माओं का क्रन्दन भारतेन्दु कालीन काव्य में बड़े स्फुट स्वर में व्यक्त हुआ। होली दीपावली भारतीय समाज के हर्ष निदर्शक पर्व हैं परन्तु आर्थिक कठिनाइयों में किस प्रकार जनता को कष्टप्रद प्रतीत होने लगे थे इसका एक चित्र राधाचरण गोस्वामी के पदों में देखिये —

> है दुर्दसा न थोरी कहा हम खेलें होरी
> इत मकास उत टिकस लगायो कर सब न कर जोरी।
> तेज मनाज ठीक कछु नाहीं मरत प्रजा सब ठौरी।
> भीग मांगत सब भोरी। है दुर्दसा न थोरी।

यहाँ पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि भारतेन्दु काल के कवियों ने जनता तक अपनी आवाज अधिकाधिक मात्रा में पहुँचाने के लिये प्रायः लोकभाषा व लोकगीतों में ही काव्य की रचना की है।

उनके काव्य का उद्देश्य जनहित था अतः समाज संबंधित सम्पूर्ण काव्य उन्होंने बड़ी सरल सुबोध भाषा में लिखा है।

१९वीं शताब्दी समाप्त होते ही देश और समाज की परिस्थितियों में बहुत अन्तर हो गया। शिक्षा की वृद्धि के साथ पुरातन रूढ़ियाँ अन्धविश्वास तथा कुरीतियाँ धीरे धीरे लोप होने लगीं। अब आवश्यकता थी नये आदर्शों की नवीन रीतिनीति की नवीन काव्य भाषा और नवीन प्रकार के साहित्य की। ऐसे समय में नवीन आदर्शों की रचना के लिये पुरातन आर्य सभ्यता के वे तत्व खोज निकाले गये जिनके बल पर कभी भारतवर्ष ने जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त की थी। प्राचीन आदर्शों के आलोक में देशकालानुसार नवीन सभ्यता की रचना समाज का ध्येय बन गया। फलतः २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काव्य में हमें पुरातन वैभव की गूंज सुनाई देती है। 'साकेत' 'प्रियप्रवास' 'रामचरित चिन्तामणि' 'यशोधरा' 'द्वापर' आदि अनेक महाकाव्य व खंडकाव्य पौराणिक उपाख्यानों पर ही लिखे गये। इसके अतिरिक्त मासिक पत्र पत्रिकाओं में पुरातन वैभव और प्राचीन आदर्श चरित्रों का गुणगान यथा :—

इसी भूमि पर राम कृष्ण ने जन्म लिया है
ऋषि मुनियों ने यहीं ज्ञान विस्तार किया है।
है क्या कोई देश यहाँ से जो न जिया है
मधुपर्क पीयूष सभी ने यहाँ पिया है।

कविता का मुख्य विषय बन गया। पुरातन तथा नवीन स्थिति का तुलनात्मक विवरण व नूतन समाज के आदर्शों का अवलोकन कराने के लिये श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' की रचना की। गुप्तजी की इस पुस्तक का समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आबाल वृद्ध के हृदय को इसने अपनी ओर आकर्षित किया। राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में 'भारत भारती' का वही महत्व है जो कि महात्मा तिलक और गोखले का है।

भावों व विचारों के परिवर्तन के साथ काव्य की भाषा में भी परिवर्तन आवश्यक होगया है। ब्रजभाषा अपनी शृंगार प्रधानता के कारण नवीन भावों के ग्रहण में सर्वदा असमर्थ समझी गई, अतः उसका स्थान खड़ी बोली को दिया गया। इस युग में कवि समाज हित के प्रति इतने निष्ठावान थे कि राष्ट्रीय व देश भक्ति के भावोद्बोधन के लिये उन्होंने तीन सौ वर्षों के साहित्य संस्कार से परिमार्जित ब्रज भाषा का मोह त्यागकर अनगढ़ व परुष खड़ी बोली को ही काव्य की भाषा स्वीकार किया क्योंकि खड़ी बोली इस समय जन प्रचलित भाषा थी।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जिनके नेतृत्व में बीसवीं सदी का काव्य प्रणीत हो रहा था कवियों को उन अवतारों की श्रेणी में गिनते थे जो गीता के अनुसार 'धर्मसंस्थापनार्थाय' जन्म ग्रहण करते हैं। द्विवेदी युग के काव्य में जन हित का स्वर सबसे ऊँचा है। केवल काव्य के लिये काव्य की रचना करने वाले कवियों के विषय में इस युग की सामान्य धारणा थी :–

देश की भलाई भला भाई जो न सोहि मन
नाहक बिताई कविताई में वयस क्यों ?

इस युग का काव्य तत्कालीन सामाजिक विचारों का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। इसमें दो भावों की प्रधानता है। प्रथम समाज सुधार और द्वितीय राष्ट्र भक्ति। समाज सुधार के क्षेत्र में 'आर्य समाज' व राष्ट्रीय क्षेत्र में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के आन्दोलनों का काव्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सामाजिक जीवन में धर्म का महत्व व पारलौकिक मोक्ष प्राप्ति के स्थान पर इसी लोक में मानव मात्र की सेवा द्वारा मुक्ति की भावना का प्रसार इस युग में हुआ। द्विवेदी युगीन काव्य में इन भावों की प्रतिध्वनि हमें सुनाई पड़ती है। पिता के परलोक वास और भाई के वनवास से दुखी भरत को 'रामचरित मानस' के वशिष्ठ ने समझाया था –

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलख कहेहु मुनिनाथ ।
हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधिहाथ ।।

किन्तु भाग्य के स्थान पर श्रम और उत्साह के पक्षपाती मैथिलीशरण गुप्त के वशिष्ठ भरत को कर्मण्यता का आदेश देते हुए कहते हैं –

अब उठो हे वत्सो धीरज धार
बैठे हैं वीर क्या थकहार ?
धनु सर सम तुम रहो यह छोड़
सतत कर्म क्षेत्र है नरलोक
मरण है अवकाश जीवन काय ।

लोकसेवा को ही हरिभक्ति समझकर परमार्थ का सुन्दर आदर्श पं रामनरेश त्रिपाठी ने अपने काव्य 'मिलन' मे उपस्थित किया है । इहलौकिक कर्त्तव्यों से विमुख होकर वन में मुक्ति की साधना करनेवाले मनुष्यों को उन्होंने बताया –

ईश्वर भक्ति लोक सेवा है एक अर्थ दो नाम
वन मे बस कैसे हो सकता है मनुजोचित काम ।
जगती में सुख शांति बढ़ाना देकर निज श्रम शक्ति
मनुष्यता का अर्थ यही है और यही हरिभक्ति ।

समाज सुधार के क्षेत्र म कवियों ने स्त्रियों की उन्नति शिक्षा के विस्तार व पारिवारिक जीवन को सुन्दर बनाने पर विशेष बल दिया है ।

काव्य मे राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुई है । प्रथम पराधीनता के प्रति कटु आक्रोश के रूप में दूसरी दीन-हीन दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति के रूप में । पराधीनता पाश को तोड़कर स्वतंत्र होने की प्रबल कामना सोहनलाल द्विवेदी के निम्न गीत में अभिव्यक्त हुई है –

हम मातृभूमि के सैनिक हैं आजादी के मतवाले हैं,
बलि वेदी पर हँस हँस करके निज शीश चढ़ाने वाले हैं ।

सम्मान शूर वीरों की है हम दास नहीं कहलायेंगे।
या तो स्वतंत्र हो जायेंगे, या रण में मर मिट जायेंगे।

दीन-हीन दलित वर्ग में मजदूर तथा किसानों के प्रति कवियों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। कृषिप्रधान देश में ग्राम और कृषक ही राष्ट्र के जीवन आधार हैं। किन्तु उन्हीं को सर्वाधिक उपेक्षित व दुखी देखकर कवियों ने बड़े मार्मिक शब्दों में उनकी दुर्दशा के चित्र अंकित किये हैं।

इस भांति द्विवेदी युगीन काव्य सामाजिक जीवन के अनेक पक्षों को समेटकर आगे बढ़ा है।

समाज की गति परिवर्तनशील है। विशेषकर इस वैज्ञानिक सभ्यता में उसकी गति प्रतिदिन ही नहीं प्रतिपल परिवर्तित हो रही है। अब एक घंटे में मनुष्य सैकड़ों मील की दूरी पार कर लेता है वह भारत में ही बैठा हुआ सुदूर अमेरिका और इंगलैंड के मनुष्यों से वार्तालाप कर लेता है समुद्र के अन्तस्तल और आकाश की ऊंचाई तक पहुँचना उसके लिये अत्यन्त सुकर हो गया है तब मानव प्रकृति में भी प्रतिपल परिवर्तन हो तो क्या आश्चर्य है?

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक समाज की अवस्था में बहुत परिवर्तन हो गया। मानव ने देश और समाज की छोटी परिधि को तोड़कर विश्व के विशाल प्रांगण में प्रवेश किया जीवन धारा पुराने कूलों को तोड़कर नवीन भूमि पर संचरित हुई। फलतः छायावादी काव्य में स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की समूह के स्थान पर व्यक्ति की सान्त को छोड़कर अनन्त की व्यक्त को छोड़कर अव्यक्त की तथा सुख को छोड़कर दुख की चर्चा विशेष रूप से होने लगी। काव्य में व्यक्तिगत समस्याओं का चित्रण प्रमुख बन गया। कोई सामाजिक बन्धनों से कोई धार्मिक रूढ़ियों से इस लोक से ऊबकर किसी दूसरे काल्पनिक लोक की खोज में निमग्न रहने लगा। निराशा और दुख की अभिव्यक्ति

काव्य में विशद रूप से हुई। हृदय की घनीभूत पीड़ा आँसू बनकर, तथा 'नीर भरी दुख की बदली' के रूप में आकर काव्य भूमि पर बरसने लगी। बाह्य संसार में स्नेह और सौन्दर्य का अभाव पाकर कवियों ने हृदय में ही सौन्दर्य का संसार बसा लिया। सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा —

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित भीतर
सौन्दर्य स्नेह उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग के बाहर।

मानव के बाह्य बन्धनों के प्रति विद्रोह की उग्र भावना लेकर कविवर बच्चन ने मधुशाला मधुबाला के रूप में समाज को चुनौती दी —

उद्दाम तरंगों से अपनी मस्जिद गिरजालय देवालय
मैं तोड़ गिरा दूँगी पल में मानव के बंदी गृह निर्दय।
जो कूल किनारे तट करते संकुचित मनुज के जीवन को,
मैं काट सबों को डालूँगी किसका डर मुझको मैं निर्भय।
मैं बहा बहा दूँगी क्षण में पाखंडों के गुरु गढ़ दुर्जय।

हिन्दी का छायावादी व रहस्यवादी काव्य तत्कालीन नवयुवक समाज की उन आन्तरिक अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब है जो बाह्य संसार की जटिलताओं की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई हैं। रहस्यवादी प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा ने अपने विषय में लिखा है "अनेक सामाजिक रूढ़ियों में दबे हुए निर्जीव संस्कारों का भार ढोते हुए और विविध विषमताओं में साँस लेने का भी अवकाश न पाते हुए जीवन के ज्ञान ने मेरे भाव जगत् की वेदना को गहराई और जीवन को क्रिया दी है।"

निराशा और दुख मानव के चिरस्थायी भाव नहीं हैं। समय के साथ इनमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन होता रहता है। बड़े से बड़ा कष्ट समय पाकर दूर हो जाता है, निराशा आशा में परिणत हो जाती है। प्रकृति के इसी नियम के अनुसार काव्य में निराशा की काली घटाओं के मध्य आशा की 'स्वर्ण किरण' चमकने लगी। वैयक्तिक हर्ष-विषाद

की शुष्क परिला तोड़कर छायावादी कवि व्यापक मानवता तथा गंभीर जीवन दर्शन की ओर मुड़े। काव्य में उन्होंने ऐसे भावों की व्यंजना की जिसके आधार पर समग्र संसार सुख, शांति और प्रेम की विमलता ग्रहण कर सके।

इस समय समाज का ध्यान ललित कलाओं के पुनरुत्थान तथा भारतीय दार्शनिक व आध्यात्मिक ग्रन्थों के पुनरध्ययन की ओर विशेष रूप से आकर्षित था। चित्र नृत्य संगीतादि कलायें उन्नति पर थीं। उपनिषद्, गीता बौद्ध दर्शन के आधार पर नवीन दार्शनिक सिद्धांतों की रचना हो रही थी। स्वामी रामतीर्थ रामकृष्ण व विवेकानन्द का दार्शनिक अद्वैतवाद तथा महात्मा गांधी व योगिराज अरविन्द का आध्यात्मिक व्यक्तित्व युग को प्रभावित कर रहा था। छायावादी कवियों ने इस नवीन सांस्कृतिक उत्थान में पूर्ण सहयोग दिया। प्रसाद की 'कामायनी' दिनकर का 'कुरुक्षेत्र', पन्त और निराला का जीवन दर्शन युग की सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित है। इस वैज्ञानिक युग में जब कि मनुष्य न पूर्व का रह गया है और न पश्चिम का तब एक समन्वयवादी संस्कृति के निर्माण की परम आवश्यकता समझ कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना' नाट्य रूपक की रचना की। इसमें उन्होंने 'पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रूप रंग भरकर' नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का आदर्श उपस्थित किया है। नवीन विश्व सभ्यता के कुछ उपादेय सिद्धांत हैं —

> गूँजे जय ध्वनि से आसमान, सब मानव मानव हैं समान।
> निज कौशल मति इच्छानुकूल सब कर्म निरत हों भेद भूल।
> बंधुत्व भाव ही विश्व मूल सब एक राष्ट्र के उपादान।

यों जयशंकर प्रसाद के 'कामना' नाट्य रूपक में इन्हीं सिद्धांतों की पुष्टि है। 'कुरुक्षेत्र' में श्री रामधारी सिंह दिनकर ने स्नेह और बलिदान को मानवता का आदर्श बताया है —

स्नेह अभिराम होंगे माप नरता के एक
मरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से ।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अमर अभिलाषी इन कवियों की पवित्र एवं उदार भाव भूमि में युगों की उपेक्षित मानवता स्नेह के संबल से पुन: जी उठी है । 'पतिता' परकीया वेश्या विधवा के रूप में समाज से उपेक्षित नारी को कवियों ने प्रेम और करुणा के बल पर पुन आत्मीयता प्रदान की है । निराला ने विधवा को 'दीपशिखा सी शांत' 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी' जैसे पवित्र विशेषण प्रदान किये हैं । नरेन्द्र शर्मा ने वेश्या को 'लक्ष्मी' 'देवी' बनाकर भाई का प्यार समर्पित किया है । नारी को इस युग के कवियों ने पवित्रता और 'सौन्दर्य की साकार' प्रतिमा सिद्ध किया है ।

छायावाद के अनन्तर 'प्रगतिवादी' काव्य धारा का प्रचार हुआ जिसमें समाज की आर्थिक समस्याओं का चित्रण है । मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार 'अर्थ' समाज व्यवस्था का मूल आधार है । मार्क्स के इस सिद्धान्त से प्रभावित कवियों ने समाज को पूँजीपति और मजदूर दो वर्गों में विभक्त करके देखा है । काव्य में दोनों वर्गों के जीवन की विषमताओं का विशद चित्रण हुआ है । सामान्यतया 'प्रगतिवाद' निम्न और मध्य वर्ग के जन जीवन का काव्य है । इस काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति नित्यप्रति विशाल रूप ग्रहण करती गई, समाज और साहित्य का संबंध दृढ़तर होता गया । कविगण जीवन की प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया को काव्य में अंकितकर उसकी सीमा को व्यापक बनाने में प्रयत्नशील हुये । मानव मात्र को सुखी देखने की आकांक्षा में रत प्रगतिवादी कवि चाहता था –

कोई न धनी रह जावे कोई न दरिद्र दिखावे
जो काम करे सुख भोगे यह स्वर्ण नियम बन जावे ।

'प्रगतिवाद' के बाद प्रयोगवाद तथा 'नई कविता' में कविगण आधुनिक जीवन में बढ़ती हुई बौद्धिकता और वैज्ञानिकता का विश्लेषण करने

में संलग्न है। 'नयी कविता' आधुनिक यांत्रिक जीवन का यथार्थ चित्र है। आज मनुष्य जीवन में न उमंग दिखाई देती है न उत्साह। मोहक आशायें भी अब नहीं रहीं। आज तो उसे केवल जिज्ञासा है विज्ञान के नूतन आविष्कारों की तथा देश विदेशों की हार-जीत की। चारों ओर बुद्धि का साम्राज्य छाया हुआ है। इस भौतिक युग की सर्वेसर्वा — ईश्वर कहिए लक्ष्मी कहिये धर्म-ध्यान कुछ भी कहिए — मशीनें हैं। मनुष्य उनका एक पुर्जा मात्र है, इसीलिये नया कवि कहता है —

तप और साधना से कोसों दूर
अपनी बनावट से मजबूर
मैं मशीन युग का हूं मात्र एक छोटा यंत्र
— भारत भूषण अग्रवाल

आज जीवन की परिभाषा बदल गई है सौन्दर्य के मान बदल गये हैं मधुबन की बातें' और 'प्रेम के तराने' लिखने का युग बीत गया है। सरोवर और कमल भी अब कहाँ दिखाई देते हैं। पनघट और बसंत की रंगरेलियां भी नहीं रहीं। प्रेम वेदना से शून्य आधुनिक जीवन की इस व्यस्तता और बौद्धिकता का निरूपण करते हुए कवि लिखता है :—

अब वह वियोग कहाँ क्लेश कहाँ।
कहाँ सन्देश कष्ट,
चिट्ठियाँ ले उड़ते वायुयान
खबरें ले टेलीग्राम
और विज्ञापन ले घूम जाते
दसों दिशाओं में पत्र।
व्यर्थ 'मेघदूत' उपेक्षित 'भ्रमरगीत'
और सच पूछो तो
इस व्यस्त युग में प्रेम चिन्ता के
मात्र प्रश्नों के बीच

प्रेम के विरह के आँसू बहाने की
फुर्सत भी कहाँ है ?
— देवराज उपाध्याय

'नयी कविता' में मध्यम वर्ग के जीवन और समाज की मानसिक कुंठाओं तथा दैनिक स्थिति का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। व्यंग्य प्रधान शैली में इस युग की कविता ने समाज की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को उन्मुक्त किया है। कला की दृष्टि से 'नई कविता' में चाहे जितने गुण-दोष हों नई सामाजिक चेतना को स्वरूप देने में इसके महत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

---

# नारी – तुलसी की दृष्टि में

तुलसीदास की रामायण जितनी घर घर प्रसिद्ध है उतनी ही तुलसी की 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' वाली चौपाई प्रसिद्ध है। यह एक ऐसी चौपाई है जिसके कारण तुलसी की नारी भावना को सदा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और जिसके कारण उन्हें न जाने कितनी खरी खोटी सुनाई गई है। नारी की चर्चा छिड़ते ही यह चौपाई तुरन्त मस्तिष्क में आ उपस्थित होती है और तब तुलसी के नारी विषयक विचारों पर भाँति भाँति के तर्क वितर्क प्रारंभ हो जाते हैं।

क्या सचमुच तुलसीदास नारी को ताड़ना की अधिकारी समझते थे ? यदि रामायण की कथा में चित्रित नारियों पर दृष्टिपात करें तो इस प्रश्न का समाधान आसानी से हो सकेगा। भारतीय शास्त्रों में और भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान बहुत ऊँचा है। वह सर्वत्र पूजा के योग्य मानी गई है। तुलसी वेदशास्त्रों के ज्ञाता थे उन्होंने नाना पुराण निगमागमों का अध्ययन किया था तब क्या वे नारी के इस महत्व से अपरिचित थे जो उन्होंने पूजा के स्थान पर नारी को ताड़ना की अधिकारी बताया ? तुलसी के विषय में हमारी ऐसी धारणा निश्चय ही हमारा मिथ्याज्ञान है। पत्नी की घोर भर्त्सना सहकर भी जिस सन्त कवि ने गृहस्थाश्रम को मनुष्य जीवन का आवश्यक ही नहीं अनिवार्य अंग माना हो और जिसने महत्व का इतना भव्य चित्रण किया हो कि गृहस्थाश्रम से वंचित मनुष्य को खर, शूकर, श्वान की उपाधि दी हो वह कवि नारी को केवल ताड़ना की अधिकारी मानेगा यह बात किसी भी दृष्टिकोण से तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। राजा दशरथ की गोद में घूमते हुए चारों राजकुमारों के सौन्दर्य पर तुलसी स्वयं तो मुग्ध थे ही किन्तु जो

व्यक्ति इस सौन्दर्य पर मुग्ध होना नहीं जानता तुलसी की दृष्टि में संसार में उसका जन्म लेना वृथा है। वे कहते हैं –

पद कंजनि मंजु बनी पनही धनुही सर पंकज पानि लिये।
लरिका सग खेलत डोलत हैं सरयू तट चौहट हाट हिये।
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये।
नर ते खर, शूकर, स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिये।

तुलसी सन्त कवि थे इसलिए उन्होंने नारी का तिरस्कार किया यह धारणा उनके इस पद से निर्मूल हो जानी चाहिये। उन्होंने गृहस्थाश्रम की महिमा के समक्ष जप जोग समाधि को व्यर्थ बताया है। सब जानते हैं – गृहस्थाश्रम का मूल नारी है। 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' कहावत प्रसिद्ध है। तुलसी ने गृहस्थाश्रम को महत्व दिया इसका तात्पर्य है कि उन्होंने नारी का बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया है। जो नारी राम जैसे अवतारी बालक को गोद में खिलाने का सौभाग्य प्राप्त करती है उससे बढ़कर विश्व में कोई भाग्यवान है तुलसी इसे नहीं मानते। वे कहते हैं –

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या के गोद ।।

कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई।
निगम नेति शिव अन्त न पावा ताहि धरै जननी हठि धावा।

राम का महत्व पीछे है पहले उसका महत्व है जिस माता ने इन्हें जन्म दिया है। तुलसी ने नारी के इस मातृरूप की उदात्त कल्पना की है। सम्पूर्ण रामायण में उन्होंने माता को पिता से ऊँचा स्थान दिया है। राम माता को प्रणाम पहले करते हैं, पिता को उसके बाद। राजा दशरथ ने राम को चौदह वर्ष के वनवास की आज्ञा दी है कौशल्या को इस आज्ञा के ऊपर आज्ञा देने का अधिकार है। वह चाहे तो राम को वन जाने से रोक ले क्योंकि सन्तान पर माता का अधिकार पिता से बढ़कर है। इसीलिए वह राम से कहती है –

जो केवल पितु आयसु ताता । तो जनि जाहु जानि बड़ि माता ।
जो पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ।

नारी के महत्व की इससे बड़ी व्याख्या और क्या होगी ? यहाँ तुलसी ने प्रकारान्तर से "पितु शतगुणा माता गौरवेणातिरिच्यत" के शास्त्रोक्त मत की पुष्टि की है ।

पुत्री और पुत्रवधू रूप में तुलसी ने नारी का बड़ा सम्मान किया है । नारी के इन रूपों के वर्णन में उनका दृष्टिकोण पुरातन मान्यताओं के अनुकूल है । मध्ययुगीन समाज में नारी का स्थान बहुत गिर गया था । घर में कन्या का जन्म अशुभ माना जाने लगा था । मध्ययुगीन प्रेमाख्यानकों में हम पढ़ते हैं –

का संवरहु बैरी जग माहीं । दुहिता सम बैरी जग नाहीं ॥
परहि सीस जो नवत न माथा । जनमत आइ सीस भुइ नावा ॥
जाही दिन जनमी घर नारी । नाये नामि अहाई नारी ॥

अर्थात् संसार में माता-पिता की सबसे बड़ी शत्रु कन्या है । वह जिस दिन घर में जन्म लेती है उसी दिन से माता-पिता का सिर नीचा होजाता है । किन्तु तुलसीदास का भावुक हृदय पुत्रियों के लिये ऐसे विचारों की कल्पना भी नहीं कर पाता । उन्होंने रामायण में सीता आदि पुत्रियों के लिये माता-पिता के प्रेम का जैसा अनुपम चित्र उपस्थित किया है उससे पत्थर का हृदय भी पिघल जाता है । पुत्रियों की विदाई के अवसर पर राजा जनक और रानियों की व्याकुल छटपटाहट बड़ी मार्मिक है । बारात जाने वाली है यह सुनते ही रानियां इस प्रकार व्याकुल हो उठीं मानो थोड़े जल में मछली छटपटाती हो । वे पुत्रियों को बार-बार गोद में बिठाकर गले से लगा आशीर्वाद देती हैं –

होएहु संतत पियहि पियारी । चिरु अहिवात असीस हमारी ॥
सास ससुर गुर सेवा करेहू । पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥

किन्तु इतने पर भी मन नहीं मानता । वे पुनः पुत्रियों को हृदय से

समाकर रोने लगती हैं और कहती हैं 'ब्रह्मा ने संसार में स्त्री जाति की रचना ही क्यों की है ?' श्री राम को अपनी प्राणाधिक प्रिय पुत्रियों को सौंपते हुए माताओं ने जो विनय की है उसके एक-एक शब्द में मूर्तिमती करुणा विद्यमान है। उनके इन वचनों में हृदय लिपटा सा जाता है –

> करि विनय सिय रामहि समर्पी जोरि कर पुनि-पुनि कहैं।
> बलि जाउँ तात सुजान तुम कहँ बिदित गति सबकी अहैं।
> परिवार, पुरजन मोहि राजहि प्रान प्रिय सिय जानिबी।
> 'तुलसी' सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी।

इसके बाद पुत्रियों से लिपटकर माताएँ जिस प्रकार रोईं उस दृश्य का वर्णन कठिन है। पुत्रियां से बार-बार भेंटती हुई माताओं को सखियों ने इस प्रकार अलग किया जैसे हाल की ब्यायी हुई गाय को कोई बछड़ी से अलग कर दे।

यह स्थिति माताओं की है। पिता जनक को भी पुत्रियों से बिछुड़ने का दुःख इससे कम नहीं है। राजा जनक जो परम वैराग्यवान् कहलाते थे सीता को विदा होते देख धैर्य छोड़ बैठे। तुलसी कहते हैं –

> सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
> लीन्हि राय उर लाय जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की॥

पुत्री प्रेम में राजा जनक की ज्ञान मर्यादा एक ओर रखी रह गई। कन्याओं के लिये इतना प्यार भारतीय परिवारों की परम्परा रही है। तुलसी इससे भली भाँति परिचित थे अतः स्त्रियों के पतन की उस घोर स्थिति में भी उन्होंने उसी परम्परा का आदर्श ग्रहण किया है। उन्होंने परिवार में कहीं कन्या का महत्व कम नहीं दिखाया।

पुत्रवधू के रूप में नारी का महत्व तुलसी ने सीता आदि वधुओं के लिये अयोध्या में किये गये स्वागत-सत्कारों और सास ससुर से प्राप्त प्रेम व्यवहारों द्वारा प्रदर्शित किया है। गृहस्थाश्रम में पुत्रवधू का स्थान

उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना पुत्र जन्म का। चार पुत्रों को पाकर अयोध्या का राज परिवार जितना आनन्द मग्न हुआ था पुत्रवधुओं को पाकर उससे अधिक आनन्दित दिखाया गया है। सीता आदि पुत्र वधुओं को देखकर कौशल्या आदि माताएं इतनी प्रसन्न हुई मानो योगी ने परम तत्व पा लिया हो, रोगी ने अमृत पा लिया हो जन्म के दरिद्री को पारसमणि मिल गई हो अन्धे को नेत्र-लाभ और गूंगे के मुख में सरस्वती आ विराजी हो। राजा दशरथ ने उन्हें पुत्रियों के समान प्यार किया और रानियों को आदेश दिया –

बधू लरिकनीं पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं॥

अर्थात् बहुएं छोटी हैं, अपरिचित घर में आई हैं इन्हें इस प्रकार प्यार पूर्वक रखना जैसे नेत्रों को पलकें रखती हैं। सचमुच कौशल्या ने उन्हें इसी भांति रखा। सीता से उन्होंने कभी दीप की बत्ती हटाने के लिये भी नहीं कहा। तुलसी की इस भावना में "यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" का आदर्श निहित है। रामायण की सम्पूर्ण कथा में तुलसी ने नारी के इस सम्मान का विशेष ध्यान रखा है। तनिक तुलना कीजिये तुलसी के नारी संबंधी दृष्टिकोण की प्रेमाख्यानकों में वर्णित नारी की स्थिति से। प्रेमाख्यानकों में नारी को–

तिरिया भूमि खड़ग की चेरी जीत सो खड़ग होइ तेहि केरी।

कहकर बहुत तुच्छ स्थान दिया गया है। जायसी ने नागमती को दुनियां धंधा बताकर आध्यात्मिक मार्ग में विघ्न स्वरूपा माना है। रत्नसेन उसे स्पष्ट शब्दों में कहता है –

तुम तिरिया मति हीन तुम्हारी। मूरख सो जो मतै घर नारी॥

ससुराल के व्यवहारों का जितना सुन्दर वर्णन तुलसी ने किया है ठीक उसके विपरीत प्रेमाख्यानकों म वर्णित है। इनमें सर्वत्र सासों के कठोर व्यवहार का वर्णन किया गया है। 'विभावरी' में सखियां विवा

पत्नी के समक्ष सास-ननदों के कठोर व्यवहार का वर्णन करती हुई ससुराल में बहुत सावधान रहने की शिक्षा देती है —

कठिन रहन ससुरे कर आहै। तब ही कुसल कंत बस आहै ॥
बोलत ऊँच सासु देइ गारी। ननदी नीच बोल बेबहारी ॥

इसी तरह की बहुत सी बातें इनमें कही गई हैं किन्तु नारी-सत्कार का जो आदर्श तुलसी के मस्तिष्क में था उसे उन्होंने कहीं नहीं गिरने दिया। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि तुलसी का नारी के प्रति दृष्टिकोण क्या था ? एक ओर सास-ननदों से प्रताड़ित पुत्र-वधुओं का वर्णन है दूसरी ओर रामायण में कौसिल्या और सीता का सुन्दर आदर्श है जिसमें वन जाती सीता को देखकर कौशल्या अत्यन्त व्यथित हो कहती है —

नयन पुतरि करि प्रीत बढ़ाई। राखेउ प्रान जानकिहि लाई ॥
कलप बेलि जिमि बहु बिध लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली ॥

माता पुत्री और पुत्रवधू के रूप में नारी के प्रति तुलसी के विचारों से अवगत होने के उपरान्त अब आइये नारी के पत्नी रूप पर। पत्नी रूप में नारी का वर्णन जिस प्रकार तुलसी ने किया है उस पर बहुत आक्षेप किये जाते हैं। उसका प्रमुख कारण है तुलसी द्वारा की गई पातिव्रत धर्म की विस्तृत व्याख्या। जैसा कि अन्य शास्त्रकारों ने माना है तुलसी ने उसी के अनुकूल नारी धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है —

मातु पिता भ्रात हितकारी। मित सुख-प्रद सुनु राजकुमारी ॥
अमित दान भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना ॥
एकहि धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा ॥
सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभगति लहै।

पति के प्रति पत्नी की इस निष्ठा में वात्सल्य की सी भावना दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी पुरुष को बहुत ऊँचा

पद देकर नारी को उसकी दासी बनाना चाहते हैं। किन्तु तुलसी की यह धारणा एक तो पुरानी परम्परा पर आधारित है दूसरे इस कथन के धार्मिक रूप को छोड़कर यदि इसकी मर्मगम्भीरता पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि तुलसी ने नारी के कितने व्यापक हित को ध्यान में रखकर पतिव्रत धर्म की उपर्युक्त व्याख्या उचित समझी है। उस युग में हिन्दू समाज के उच्च वर्गों मे स्त्री के पुनर्विवाह की प्रथा उठ गई थी। पुरुष के कितने ही विवाह संभव थे किन्तु सामाजिक व्यवस्था में स्त्री का एक मात्र आधार उसका पति था। पढ़लिखकर नारी अपने पैरों पर खड़ी हो सके इसके लिये 'स्त्रीशूद्रौनाधीयताम्' की वेदोक्त मर्यादा ने रोक लगा दी थी। पति के बिना समाज मे नारी का न कोई आदर था और न कोई स्थान। यद्यपि तुलसी की दृष्टि में एक पत्नीव्रत का भी उतना ही महत्व था जितना पतिव्रत धम का उन्होंने राम के जीवन को अपनी कथा का आधार चुना ही इसलिये था कि उनमें वे सब गुण विद्यमान थे जिनकी एक आदर्श समाज की स्थापना के लिये उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी किन्तु गृहस्थाश्रम व्यवस्था के लिये और समाज के ऊँचे नैतिक स्तर के लिये वे यह परमावश्यक मानते थे कि स्त्रियां कट्टरता से पतिव्रत धम का पालन करें। पुरुष की पशु प्रवृत्ति से या समाज की कुदृष्टि से नारी को बचाने का एक मात्र उपाय वे इसी धर्म को मानते थे। इसीलिये उन्होंने अपने धर्म से विमुख होने वाली नारी को इहलोक और परलोक दोनों में भयंकर त्रास दिखाया है। इसमें पुरुष की महत्ता इतनी नहीं जितनी नारी की सुरक्षा और समाज व्यवस्था का ध्यान रखा गया है। आज के वैज्ञानिक युग मे भी जहां नारी पुरुष से आगे बढ़ती दिखाई दे रही है नारी के लिये पुरुष के आश्रय का महत्व कम नहीं हुआ। धार्मिक दृष्टि से अब वह भले ही अपना का स्वतन्त्र माने किन्तु स्त्री के जीवन में पुरुष का अभाव आज भी उतना ही कष्टकर है। पुरुष के अभाव में जीवन की अपरिमित

समस्यायें मुँह फाड़कर सामने खड़ी दिखाई देती हैं। इसीलिये तुलसी कहते हैं –

धर्मित बानि भर्ता बैदेही। अधम सा नारि जो सेव न तेही ॥

इन पंक्तियों में वास्तव का भाव उतना नहीं जितना जीवन में पति द्वारा प्राप्त सुविधाओं के लिये कृतज्ञता का ज्ञापन है। पति-पत्नी के मध्य समबुद्धि और प्रेमसूत्र का दृढ़ बन्धन तभी होता है जब दोनों एक दूसरे के प्रति अपने अपने कर्तव्य का दृढ़ता से पालन करें। सीता ने पतिव्रत निभाया तो राम ने पत्नीव्रत का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया। दासी और स्वामी की भावना रखकर तुलसी ने नारी धर्म की इतनी विस्तृत व्याख्या नहीं की। हमारी समाज व्यवस्था इस प्रकार की है कि यहां मातृरूप में नारी का महत्व अधिक है और पतिरूप में पुरुष का। फिर भी तुलसी ने पत्नी की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखा है।

चाहे स्त्री हो या पुरुष पति हो या पत्नी जो कोई अपने कर्तव्य और मर्यादा के विपरीत आचरण करता है तुलसी ने सर्वत्र उसकी निन्दा की है। पुरुष के प्रति उनका विशेष पक्षपात हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। रावण पुरुष है और मन्दोदरी का पति है। तुलसी ने नारी धर्म की जैसी व्याख्या की है उसके अनुसार रावण चाहे जैसा कुकृत्य करे, वह चाहे परस्त्री का अपहरण ही क्यों न करे, पर मन्दोदरी का कर्तव्य है कि वह पति का अपमान न करे और यथासंभव उसकी हां में हां मिलाती रहे। किन्तु इसके विपरीत तुलसी ने मन्दोदरी द्वारा रावण की कड़ी भर्त्सना कराई है। पुरुषत्व के गर्व में चूर रावण को आड़े हाथों लेती हुई मन्दोदरी कहती है :–

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही ॥
रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई ॥
पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा ॥
कौतुक सिंधु नाघि तव लंका। आयउ कपि केहरी असंका ॥

रखवारे हति बिपिन उजारा । देखत तोहि अच्छ तेहिं मारा ॥
जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा । कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा ॥
जनक सभा अगनित भूपाला । रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला ॥
भंजि धनुष जानकी बिआही । तब संग्राम जितेहु किन ताही ॥
सूपनखा कै गति तुम देखी । तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी ॥

इसलिये अच्छा यही है कि –

अब पति मृषा गाल जनि मारहु । मोर कहा कछु हृदय बिचारहु ॥

मन्दोदरी की पति के प्रति व्यक्त उपर्युक्त भावनाओं में कितना कटु व्यंग्य निहित है । उसने रावण को खरी खोटी सुनाने में कसर नहीं छोड़ी । पत्नी के वाक्यों से तिलमिलाकर यदि रावण कहता है –

नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक असौच अदाया ॥
रिपु कर रूप सकल तैं गावा । अति बिसाल भय मोहि सुनावा ॥

तो इसमें नारी की निन्दा नहीं अपितु मतिभ्रष्ट व्यक्ति की अपनी हीनता की तिलमिलाहट है । इसका दोष तुलसी को देना उपयुक्त नहीं । तुलसी ने तो राक्षस वंश की नारियों की भी प्रशंसा की है ।

रामायण की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनके कारण तुलसी को नारी निन्दक कहा जाता है । जैसे 'सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभगति लहहि, अथवा जिमि स्वतंत्र होहि बिगरहि नारी' और 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' आदि । इन पंक्तियों को पृथक रूप से न देखकर प्रसंग के अनुसार इन पर ध्यान दिया जाय तो इनका समाधान स्वतः हो जाता है । फिर भी तुलसी द्वारा इस प्रकार का वर्णन यदि आपत्तिजनक हो तो तत्कालीन परिस्थितियों की गम्भीरता भी इस प्रकार के वचनों के लिए उत्तरदायी है । तुलसी के समय में समाज का ढाँचा बहुत बिगड़ चुका था । नैतिक पतन चरम सीमा पर था । स्त्रियाँ दुराचारिणी होने लगी

थी। पतिव्रताओं का मान घट रहा था और परस्त्रियों के प्रति पुरुषों का लगाव बढ़ने लगा था। वर्णाश्रम धर्म छोड़कर विवाह किये जाते थे जिससे वर्णसंकरता फैल रही थी। समाज की ऐसी दुर्दशा से तुलसी की आत्मा बड़ी व्यथित थी। वे मर्यादा प्रेमी थे। जीवन में परिवार में समाज में सब जगह वे मर्यादा की रक्षा करना मनुष्य का परम कर्तव्य मानते थे। उनकी दृष्टि में भावना से कर्तव्य सदैव बड़ा था। अतः दुष्ट पुरुष और दुराचारिणी स्त्रियों के चरित्रों की ताड़ना वे आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानकर चले हैं। समाज में सती और पतिता दोनों प्रकार की नारियों के प्रति तुलसी ने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। सती नारी की पूजा और पशु नारी की ताड़ना से समाज की नैतिकता की रक्षा हो सकती है इस मानने में किसी को शायद आपत्ति नहीं होगी। कैकेयी की दुर्बुद्धि पर कौन ऐसा सहृदय व्यक्ति है जिसे क्षोभ न आता हो? अपने हठ में उसने परिवार का विनाश किया। यदि तुलसी फिर भी कैकेयी का पक्ष लेकर उसके हृदय की सराहना करते तो कथा की एकरसता में भयंकर बाधा उपस्थित हो जाती। रामायण के पाठक अवश्य अनुभव करते होंगे कि भरत के द्वारा कैकेयी और मन्थरा को कहे गये कठोर वचनों से हृदय को कैसी तुष्टि प्राप्त होती है। अथवा नारीसुलभ सहज लज्जा और मर्यादा को त्यागकर लक्ष्मण और राम से अपने साथ विवाह के लिये विनय करती हुई शूर्पणखा की नाक कटती देख कितनी प्रसन्नता होती है। स्त्रियों के ऐसे कृत्य निन्दनीय हैं, और वे सदैव ताड़ना की अधिकारी हैं। उनके स्वतंत्र कर्म समाज के लिये घातक सिद्ध हो सकते हैं। तुलसी के मत में ऐसी स्त्रियों को स्वतन्त्रता देना उचित नहीं। नारी की दृष्टि से इस बात पर विचार न करके सामाजिक हित की दृष्टि से नारी की स्वतन्त्रता पर विचार कीजिये तो किसी सीमा तक तुलसी की बात में बहुत यथार्थता दिखाई देगी।

सारांश यह कि तुलसी न केवल भक्त थे और न केवल कवि। वे एक ऐसे साहित्य-स्रष्टा थे जिन्होंने जीवन के व्यापक तत्वों को दृष्टि में

रखकर एक आदर्श मानव समाज का स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया है। इस दृष्टि से तुलसी का नारी संबंधी दृष्टिकोण बहुत व्यापक और भारतीय आदर्श लिये हुए है। उसमें नारी के देवी और दानवी दोनों रूपों की विवेचना है। दोनों को ध्यान में रखकर ही तुलसी की नारी भावना की विवेचना करना उपयुक्त है।

---

# 'साकेत' की उर्मिला

'साकेत' महाकवि मैथिलीशरण गुप्त की महत्वपूर्ण कृति है। साकेत' की महत्ता इसलिये अधिक नहीं है कि इसमें कोई उत्कृष्ट कोटि की काव्य कला है अपितु इसलिए है कि उसमें कवि ने युगों से उपेक्षित नारीत्व और मातृत्व को युग की जागृत भावनाओं के अनुकूल स्थान प्रदान किया है। 'साकेत' की कथा तुलसी की रामायण की भांति सीता और राम की ही कथा है किन्तु इसमें कवि ने सीता राम के गौरव गान की अपेक्षा उर्मिला की त्याग-तपस्या और विरह-वेदना का अधिक विस्तार से वर्णन किया है। रामायण में जहां हम केवल इतना जानते हैं कि लक्ष्मण की पत्नी का नाम उर्मिला था वहां साकेत' में उर्मिला ही कथा की केन्द्र बिन्दु है। वही हमारी श्रद्धा और सहानुभूति का आधार है। 'साकेत' में राम के वन गमन पर हम उतने द्रवित नहीं होते जितने कि राम के साथ वन जाने के लिये उद्यत लक्ष्मण को देखकर सीता के कन्धे पर झर झर आंसू बहाती हुई उर्मिला की करुण और विवश दशा पर। राम पिता की आज्ञा से वन गये सीता 'पति ही पत्नी की गति है' का लक्ष्य लेकर राम के साथ गईं और लक्ष्मण राम की सेवा में ही जीवन की सफलता मानकर वन गये पर उर्मिला बेचारी केवल पति की प्रसन्नता के लिये १४ वर्ष तक महल में रहती हुई भी तपस्विनी बनी रही। यह त्याग नहीं त्याग की चरम सीमा है। उर्मिला की तपस्या राम लक्ष्मण और सीता के त्याग से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कवि की सहृदयता ने इसका महत्व समझा है अत राम के मुंह से कहलाया है —

तुम तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर।
धर्म स्थापन किया भाग्यशालिनि इस भूपर॥

पति के साथ रहकर पति के चरणों की सेवा ही एक मात्र पतिव्रत धर्म नहीं है, अपितु पति की प्रसन्नता के लिये उसके मनोनुकूल व्यवहार करना उससे भी बड़ा धर्म है। उर्मिला ने उसी महान् धर्म का पालन किया। लक्ष्मण चाहते थे –

> यदि तुम भी प्रस्तुत होगी, तो संकोच सोच होगी।
> प्रभुवर बाधा पावेंगे छोड़ मुझे भी जावेंगे।
> रहो रहो हे प्रिये रहो, यह भी मेरे लिये सहो।

लक्ष्मण के इस संकेत मात्र पर उर्मिला ने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया और मुख से मन की एक बात नहीं कही। वह अन्दर ही अन्दर अपने मन को समझाती रही –

> हे मन ! तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।
> तू विकार से पूर्ण न हो शोक भार से चूर्ण न हो।
> भ्रातृ स्नेह सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग भाव सरसे।

यदि उर्मिला के त्याग से संसार में भ्रातृ-स्नेह का आदर्श उपस्थित हो संसार स्वर्ग बने, पति को प्रसन्नता हो तो उर्मिला इस वियोग के लिये सहर्ष तैयार है। भारतीय नारी के जीवन का यही आदर्श है। सीता पति के साथ वन गई इसलिये पतिव्रताओं की शिरोमणि है तो उर्मिला ने पति के लिये अपने हास-विलास यौवन-सुख सब का परित्याग करके तपस्विनी का जीवन व्यतीत किया अतः वह सीता से भी अधिक महान् है।

सीता ने अपना भाग लिया, पर इसने वह भी त्याग दिया।

गुप्त जी ने नारी की इस महानता का मूल्य आंका है अतः वे सीता के साथ वन न जाकर अयोध्या में उर्मिला के विरह-दग्ध जीवन के साथ अश्रु बहाते दिखाई देते हैं।

उर्मिला के चरित्र में गुप्त जी ने भारतीय पुरातन संस्कृति और नवीन आधुनिक संस्कृति के सिद्धान्तों का समन्वय करके एक नवीन नारी

स्वरूप अंकित किया है। भारतीय पुरातन संस्कृति में सहनशीलता कर्त्तव्यपरायणता मर्यादापालन आत्मसमर्पण-आदि बातों को प्रधानता है। नारी जीवन मानो इन सबका मूर्तिमान् स्वरूप है। उर्मिला को प्रारम्भ में हम लक्ष्मण के साथ वार्तालाप म रत पाते हैं। वह अपने वाक्चातुर्य से लक्ष्मण को विमुग्ध कर लेती है। उनका दाम्पत्य जीवन बड़ा ही सुखमय है किन्तु अवसर आते ही वह मौन बनकर परिवार के लिये पति के लिये संसार के लिये सब कुछ त्याग देती है। पति के जाने के बाद उसके मन मे रह रह कर एक हूक सी उठती है कि वह उनके जाने के समय रो क्यों पड़ी बेहोश होकर गिर क्यो पड़ी वह क्यों न कह सकी –

हे नाथ! आप दो भ्राता का बस रहे मुझे उस माता का।
है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बड़ा जो बीच रहा है तुम्हें खड़ा।
यह भ्रातृ स्नेह न ऊना हो लोगों के लिये नमूना हो।

उर्मिला जानती है कि जो होना था वह तो हो चुका अब तो उसके जीवन का एकमात्र अवलम्ब है वन म पति द्वारा उसकी स्मृति –

आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर
तुम याद करोगे मुझे कभी तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

अवलम्ब चाहे उसने ढूंढ लिया हो किन्तु मानव मन बड़ा हठी होता है। सांत्व समझने पर भी उसकी बागडोर हाथ से छूट जाती है। ऐसी स्थिति उर्मिला के जीवन में अनेक बार आती है वह इस दुःखमय वियोगी जीवन पर कभी कभी बड़ी खीज उठती है और कहती है –

मही आता है इस मन म
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूं उसी वन में।

और कभी कैकेयी की राज्याकांक्षा को-जिसने यह सब उत्पात किया-ललकार उठती है –

हम राज्य लिये मरते हैं ।
प्रभु को निष्कासन मिला मुझको कारागार ।
मृत्यु दण्ड उन तात को राज्य तुम्हें धिक्कार ॥

कभी अपनी विवशता पर दुःखी होती हुई सखी से कहती है –

स्वजनि ! रोता है मेरा गान
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान ।

सखि बिखर गई हैं कलियाँ !
कहाँ गया प्रिय भुजा भुजी में करके वे रंगरलियाँ ।

किन्तु इस असह्य दुःख में उर्मिला कर्तव्य भूल गई हो ऐसी बात नहीं है, स्वप्न में कभी कभी लक्ष्मण को अपने पास खड़ा देखकर तुरन्त पूछती है –

प्रभु कहाँ ? कहाँ किन्तु अग्रजा ?
कि जिनके लिये था मुझे तजा
वह नहीं फिरे ? क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे अहो ! तो गिरे-गिरे ।

यदि श्रीराम और बड़ी बहन सीता तुम्हारे साथ नहीं आई तो क्या तुम्हें उन्होंने नाराज होकर भेज दिया अथवा तुम मुझे दीन जानकर लौट आये ? तब तो बड़ा भारी अनर्थ हुआ –

धिक ! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा ।

अभी समय है वापस लौट जाओ । इस प्रकार अपना व्रत भ्रष्ट न करो –

तुम व्रती रहो मैं व्रती रहूँ ।

इस प्रकार वियोग में भी उर्मिला अपना कर्तव्य भली भाँति समझती है । चित्रकूट में लक्ष्मण उनकी अत्यंत क्षीण अवस्था देखकर मन ही मन बड़े दुःखी होते हैं और क्षमा सी माँगते हुए उनके पैरों पर गिर पड़ते हैं । वे उनकी महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं –

वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य
भाभी की भगिनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।

इसके पश्चात् उर्मिला के जीवन में एक और दृश्य आता है वह है लक्ष्मण को शक्ति लगना । जिस समय उसने यह समाचार सुना वह वीर क्षत्राणी तुरन्त युद्ध में जाने के लिये कटिबद्ध हो जाती है । वह सैनिकों को ललकारते हुए कहती है —

ठहरो यह मैं चलूं कीर्ति सी आगे-आगे
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे ।

भरत और शत्रुघ्न के समझाने पर भी वह घर में रह कर आँसू बहाने की अपेक्षा युद्ध भूमि में जाकर सैनिकों की सेवा करना अपना परम कर्त्तव्य समझ उनसे कहती है—

अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं
पानी दूँगी तुम्हें न पल भर सोऊँगी मैं ।
गा अपनों की विजय परों पर रोऊँगी मैं ।

१४ वर्ष व्यतीत होने पर लक्ष्मण घर लौटते हैं । उर्मिला का यौवन ढल चुका है-जीवन का वायु समाप्त हो गया । अब उसे शृंगार अच्छे नहीं लगते । अब वह रानी नहीं पति की दासी मात्र रह गई है—

जब थी तब थी आलि उर्मिला उनकी रानी ।
वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी ॥
अब तो केवल रहूं सदा स्वामी की दासी ।
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी ॥

इस प्रकार उर्मिला के त्यागमय व्यक्तित्व को अंकित करके कवि मैथिली शरण गुप्त ने उपेक्षित नारी जाति को गौरव प्रदान किया है ।

---

# आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में नारी का स्वरूप

जायसी के 'पद्मावत' और तुलसी के 'रामचरित-मानस' जैसे सर्वांग पूर्ण महाकाव्यों के पश्चात् हिन्दी में प्रबन्ध काव्यों की परम्परा बहुत काल तक लुप्त सी रही। भक्ति-युग के बाद रीति-युग की चिन्तनधारा २०० वर्षों तक मुक्तक काव्य में ही प्रवाहित होती रही। तत्पश्चात् १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी अपने पुराने परिधानों को त्यागकर नवीन रूप में जनसम्पर्क में आई। किन्तु इस युग में साहित्यकारों के समक्ष इतनी विविध समस्यायें थीं कि वे प्रबन्ध काव्यों की रचना की ओर ध्यान न दे सके। फलतः आदिकाल के बाद महाकाव्यों की रचना २०वीं शताब्दी के द्वितीय दशक से प्रारम्भ हुई। आधुनिक युग में 'साकेत' 'प्रियप्रवास' 'वैदेही' 'वनवास' 'कामायनी' 'नूरजहाँ' 'साकेत-सन्त' 'सिद्धार्थ' 'कृष्णायन' 'पार्वती' आदि अनेक महाकाव्य प्रकाशित हुए।

यदि हम कहें कि आधुनिक युग के अधिकांश महाकाव्य नायिका प्रधान हैं तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि विषय और नामकरण की दृष्टि से यही सिद्ध होता है। 'साकेत' में उर्मिला का और 'प्रिय-प्रवास' में राधा का व्यक्तित्व राम और कृष्ण की अपेक्षा अधिक महत्त्व लिये हुए है। वैदेही वनवास कामायनी 'नूरजहाँ', 'पार्वती' आदि अपने नाम से ही प्रकट करते हैं कि वे नारीप्रधान महाकाव्य हैं। इन महाकाव्यकारों ने नारी को अपने काव्य की प्रमुख नायिका बनाकर आधुनिक युग में नारी के स्वरूप परिवर्तन तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा की है। युगों से दलित उपेक्षित और पीड़ित नारी का स्वरूप आधुनिक महाकाव्यों में अपने समस्त कालुष्य को धोकर स्वच्छ, निर्मल और पवित्र रूप में

प्रकट हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला यशोधरा विधृता तथा 'हरिऔध' ने परित्यक्ता वैदेही जैसी महिमामयी नारियों के उपेक्षित व्यक्तित्व को काव्य का विषय बनाकर नारी के त्याग और तपस्या का सच्चा मूल्यांकन किया है।

साहित्य में नारी का स्वरूप युग की धार्मिक सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुकूल गत्यात्मक रहा है।

भक्ति-युग और रीति-युग में नारी विषयक कवियों की धारणा इसके प्रमाण हैं। "तुम तिरिया मतिहीन तुम्हारी मूरख सो जो मतै बर नारी, 'अथवा' नीकी मति लेइ रमनी की मति लेइ मति" जैसी पंक्तियाँ तत्कालीन नारी विषयक धारणा को स्पष्ट करती हैं। किन्तु वर्तमान युग में समाज के परिवर्तन के साथ नारी का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया है। आज की नारी पुरुष की मुखापेक्षी नहीं है, उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र है। पुत्री पत्नी और माता के रूप में नारी का अस्तित्व समाज की संस्कृति और सभ्यता का पोषक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह पुरुष की *सहयोगिनी है और कहीं कहीं तो पुरुष की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण* कार्य कर सकती है। नारी पुरुष की उच्छृंखलता हिंसा स्वार्थ और पशुता को नष्ट करके मानवी सभ्यता की रक्षा करती है। 'कामायनी' की श्रद्धा मनु की संरक्षिका सहायिका तथा मार्ग निर्देशिका है। मनु जब जब अपने उत्तरदायित्वों से स्खलित होते हैं तभी श्रद्धा अपने अलौकिक गुणों से उनका मार्गप्रदर्शन करती है। मनु जब निराशा के गहन गर्त में डूबे जीवन को भार समझते हैं तभी श्रद्धा दया ममता मधुरिमा और अगाध विश्वास का उपहार देकर अपनी अमृतमयी वाणी से मनु के हृदय में आशा का संचार करती हुई कहती है –

अरे ! तुम इतने हुए अधीर
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते मर कर जिसको वीर।

और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान ।
शक्तिशाली हो विजयी बनो,
विश्व में गूँज रहा यह गान ॥

इस भाँति 'कामायनी' की श्रद्धा न केवल मनु को अपितु समस्त संतप्त और विषादमय मानव जगत् को शीतलता प्रदान करने वाली है । कविवर जयशंकर प्रसाद ने नारी के गुणों पर मुग्ध होकर मनु द्वारा पुरुष मात्र की ओर से आभार प्रदर्शन करते हुए कहा है —

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी ।
चिर अतृप्त जीवन यदि था तो तुम उसमें संतोष बनी ॥
कितना है उपकार तुम्हारा, आश्रित मेरा प्रणय हुआ
कितना आभारी हूँ इतना संवेदन मय हृदय हुआ ।

'पार्वती' महाकाव्य के कवि रामानन्द तिवारी ने नारी के दिव्य गौरव का बड़ा ही भव्य स्वरूप अंकित किया है । जिस समय कार्तिकेय देवताओं की रक्षा करने के निमित्त इन्द्रलोक में जाते हैं तब देवताओं को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि किसी देश की संस्कृति के नाश का मूल कारण नारी का अपमान होता है । नारी को बन्धन में रखकर स्वयं पुरुष स्वतंत्र नहीं हो सकता । नारी को अबला बनाकर पुरुष भी निर्बल बना रहेगा—उनके विचार में —

है संस्कृति की शक्ति सर्वदा संस्कृत नारी"

नारी का सौन्दर्य रीति-युगीन कवियों ने दाहक ज्वाला के स्वरूप में चित्रित किया था किन्तु वर्तमान महाकाव्यों में नारी का सौन्दर्य पुरुष को विनाश और वासना की अग्नि में न तपाकर शीतलता तथा आह्लाद प्रदान करने वाला है । नारी के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य का चित्र 'पार्वती' के कवि ने निम्न शब्दों में अंकित किया है —

नारी के मंगल गीतों में ब्रह्मा मुखरित होते ।
पुण्य पयोधर के सागर में विष्णु सनातन सोते ।
तेज और तप से शंकर को देती रूप भवानी ।
चिर यौवन से भव्य इन्द्र को करती नित कल्याणी।

आधुनिक महाकाव्यकारों ने नारी के पत्नीरूप और मातृरूप को पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की है। लक्ष्मण भक्ति के आवेश में अपनी नव विवाहिता पत्नी को छोड़कर १४ वर्ष के लिये राम के साथ वन चले गये। लक्ष्मण की यह भक्ति किसी युग में भले ही प्रशंसा का विषय रही हो किन्तु साकेत का कवि पत्नी के प्रति लक्ष्मण के इस अपराध को सहन नहीं कर सका है। उसने लक्ष्मण को इस परित्याग का अनुताप करते हुए दिखाया है। जिस समय लक्ष्मण पंचवटी में "कोऽयस्य उर्मिला रेखा यह काया है या शेष उसी की छाया' का अवलोकन करते हैं तो द्रवमूढ़ होकर उर्मिला के पैरों पर गिर पड़ते हैं और कहते हैं —

वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य ।
भाभी की भगिनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उप भोग्य ।

मातृरूप में कैकेयी के अपराध का प्रक्षालन 'साकेत' की नवीनता है। सन्तान के प्रेम में पागल माँ क्या नहीं कर सकती ? मातृ की आकृति के साथ नारी के अन्य रूप भी काव्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। सूर की गोपियाँ कृष्ण के वियोग मे निशदिन आँसू बरसाया करती हैं और संदेशों से मधुबन के कूप भरा करती हैं किन्तु 'प्रिय प्रवास' में राधा तथा अन्य गोपियाँ अपने प्रिय के घर न लौटने पर समाज सेविका बन जाती हैं। राधा वृद्ध रोगी दीन हीन निर्बल विधवा जनों की सेवा करके अपना दुःख भूल जाती है। राधा के साथ अन्य गोपियाँ भी व्रजभूमि में शांति का विस्तार करती दिखाई देती हैं। यह नारी-वृन्द विश्व का आराध्य बन जाता है। 'साकेत' की सीता अपने वनवास के क्षणों में आसपास की कोल भील किरात कन्याओं को कातना बुनना सिखाती है।

यदि अवसर पड़े तो नारी अपनी शक्ति से बड़े बड़े अत्याचारों का दमन करके विश्व शान्ति स्थापित करने में भी समर्थ है। तारकासुर के अत्याचारों से सारा देश पीड़ित था। 'तारक-वध' महाकाव्य में दशरथ पुत्री शान्ता कमर कसकर उसकी शक्तियों का ह्रास करने में तत्पर है। तारकासुर द्वारा पकड़ी जाने पर शान्ता वीर क्षत्राणी के स्वर में कहती है –

लेश मात्र भी मुझे नहीं भय है। दानव पति तेरा।
सूर्यवंश की कन्या हूँ मैं अमित पराक्रम मेरा।
निपट अकेली होकर भी हूँ रखती शक्ति अजेया।
बादल बीच बसी बिजली सी अनलमयी अनुमेया।

इसलिए नरेशों पर राजा दशरथ के आक्रमण के साथ उनकी महारानियाँ भी युद्ध में डटकर सामना करती हैं। यहाँ ही कराल बनकर महारानियाँ विष से बुझे हुए बाणों द्वारा शत्रु दल में हाहाकार मचा देती हैं। इसी प्रकार हनुमान द्वारा लंका में युद्ध का समाचार सुनकर 'साकेत' की रानियाँ युद्ध में जाने को तत्पर हो जाती हैं। उर्मिला युद्ध क्षेत्र में जाकर वीरों के घावों को धोने और उनकी देखभाल करने में अपना अहोभाग्य समझती है। वह कहती है –

अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं,
पानी दूँगी तुम्हें न पल भर सोऊँगी मैं।

इस प्रकार आधुनिक महाकाव्यों में नारी के विविध आदर्श स्वरूपों का अंकन हुआ है। यद्यपि मुक्तक काव्यों में तथा नारी विषयक कविताओं में नारी के उस असद् रूप के भी दर्शन होते हैं जो आधुनिक सभ्यता और वातावरण के परिणाम हैं जैसे 'पन्त' की 'आधुनिका' और निरंकार देव सेवक का 'नारी या शान्ति गीत' परन्तु महाकाव्यों में सर्वत्र नारी के भव्य स्वरूप की ही व्यंजना हुई है। नारी का व्यक्तित्व कवियों के अनुसार पुरुषों से महान् और शील तथा शक्ति का प्रतीक है।

नारी को पुरुष का बन्धन और माया का स्वरूप मानने वाली विचार धारा का इस युग के कवियों ने तीव्र प्रतिकार किया है। 'नल नरेश' महाकाव्य के कवि प्रतापनारायण कविरत्न ने पत्नी को पति का सच्चा मित्र और सहधर्मिणी माना है। दमयन्ती नल को सम्बोधित करके कहती है –

हूँ मैं माया मत तुम्हारा मेरे बिना कभी कुछ काम।
कर सकते तुम नहीं कहीं पर सच कहती हूँ हे छविधाम।

'वैदेही वनवास' में सीता जब वन जाने को उद्यत है तब कौशल्या वेदना से व्याकुल होकर कहती हैं कि "तुम राम के लिये शक्ति स्वरूप थी उसका पौरुष तुम्हीं पर आश्रित था तुम्हीं उसकी सिद्धिदायिनी थी गृहिणी थी तुम्हारे चले जाने पर उसका जीवन किस प्रकार कटेगा ?"

इस भाँति आधुनिक महाकाव्यों में नारी देश समाज और राष्ट्र के लिये मंगलदायिनी भवानी के रूप में चित्रित हुई है। पुत्री पत्नी माता भगिनी सभी रूपों में वह संस्कृति की संरक्षिका और विश्व की आराध्या है। जीवन के सभी क्षेत्रों में उसका अबाध प्रवेश है।

---

# 'मीरा' महाकाव्य की मीरा

राजस्थान की मरुभूमि में भक्ति रस की अमर सुधा बरसाने वाली प्रसिद्ध भक्त कवि मीरां के गीत भारत के कोने कोने में बड़े भक्तिभाव और श्रद्धा से गाये जाते हैं। लोग मीरां को गिरधर नागर के चरणों में आत्म-विभोर होकर नाचने और गाने वाली भक्तिन के रूप में ही अधिक जानते हैं। उनके बाल्यकाल यौवन वैधव्यावस्था के विषय में सर्वसाधारण जनता कम जानती है। 'बावरी' 'कुलनासी' जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित किये जाने पर भी मीरां जन-जन के हृदय में भक्ति रस उत्पन्न करने में समर्थ हुई इसका रहस्य उनके जीवन में ही अन्तर्निहित है।

राजस्थान के ख्यातिप्राप्त कवि श्री परमेश्वर द्विरेफ ने 'मीरां' महाकाव्य में मीरां की बाल्यावस्था तारुण्य और वैधव्यावस्था का बड़ा भावुक और मार्मिक वर्णन किया है। भक्ति के अंकुर मीरां जन्म से ही लेकर उत्पन्न हुई थी। ये अंकुर अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर पनप उठे। किसी दूसरे की शादी विवाह का उत्सव देखकर सभी छोटे बच्चों को अपनी शादी की जिज्ञासा होती है और प्राय वे माता-पिता से अपने मन के प्रश्न बड़े भोले शब्दों में पूछ बैठते हैं और माता-पिता उन्हें उल्टे सीधे उत्तर देकर बहका दिया करते हैं। किन्तु मीरां के जीवन में इस प्रकार की घटना अमिट पत्थर की लकीर बन गई बचपन की एक साधारण सी बात ने मीरां को वह रास्ता दिखाया जो उसके जीवन निर्माण में पूर्ण सहायक सिद्ध हुआ। अपने पड़ौस के घर में किसी वर को आया देखकर मीरां ने बड़ी उत्सुकता से अपनी माँ से पूछा —

है कौन ? कहाँ माँ ? मेरा वर ?
मैं किसकी दुलहिन बनी अमर —

माँ ने उसका मन बहलाने के लिये कह दिया कि तुम्हारा वर 'गोधन सर्वेश्वर' है। बस इसी समय से इस अज्ञात प्रियतम के प्रति मीरां के हृदय में अपार भक्ति और प्रेम जागृत हो उठा। इसी दिन से वह गोपाल को देखने और पाने के लिए व्याकुल हो उठी वह माँ से पूछती –

माँ ! मौ पालक नटवर नागर।
ये कौन कहाँ है इसका घर ?

माँ इतनी छोटी सी बालिका की लगन पर आश्चर्यचकित थी। उन्होंने अपनी बालिका की जिज्ञासा शान्त करने के लिये कृष्ण के विविध रूपों का वर्णन किया और बताया कि –

रहते नागर बैकुंठ धाम राधा के साथ सदा ललाम।
साधते भक्त के सभी काम पल प्रतिपल।

भाग्यवश एक साधु कृष्ण की मूर्ति लेकर इनके घर आया। इस मूर्ति को देखकर मीरां को पूरा विश्वास हो गया कि यही श्रीकृष्ण हैं। उस मूर्ति में मीरां के प्राण बस गये और जब तक उस मूर्ति को उन्होंने प्राप्त न कर लिया तब तक खाना पीना सब त्याग दिया। साधु मीरां की अनन्य भक्ति पर मुग्ध हो गया और उन्हें वह मूर्ति दे गया। अब मीरां के खेल-कूद के साथी यही कृष्ण भगवान् बन गये। वह उन्हें भोग लगाती चन्दन लगाती पूजा करती और नये नये गीत गाती। मीरां के जीवन की यह घटना उनके अन्तिम समय तक हृदय पटल पर अंकित रही और इसीके आधार और विश्वास पर जीवन के कठिन से कठिन संकटों को भी उन्होंने हँस हँस कर सहन किया।

राजस्थान के रजवाड़ों में कन्या का जन्म अभिशाप माना जाता था। क्योंकि –

एक मात्र कन्या विवाह में बिक जाता है हरा भरा घर।
सब स्वाहा कर देने पर भी वर वालों को स्वाद नहीं पर॥

रुपये आभूषण दहेज में जीवन व्यर्थ चला जाता है ।
कन्या वाले को पग पग पर, बारंबार छला जाता है ॥

इन्हीं कारणों से मीरां के पिता उनकी ओर अधिक ध्यान न देते थे । मां के बहुत समझाने पर वे यह दिया करते थे —

क्या लड़की भी अरे काम की ?
चीज पराये घर की आखिर
केवल चिंता सुबह शाम की ।

पिता का यह उपेक्षा भाव मीरां से छिपा न था । वह अपनी मां से ही अधिक प्यार करती थी किन्तु दैवयोग से मीरां की माता भी उन्हें असहाय अवस्था म छोड़कर परलोक सिधार गई । बेचारी मीरा का जीवन शून्य हो गया । सोते जागते वह मां की पुकार करती रहती —

एक 'मा' 'मा' का करुण गीत
वही था प्रतिपल बारबार ।
शान्त निशा में नीरव मग्न
हो गई थी यह क्या उपचार' ।

मीरां के इस सूने जीवन में कृष्ण की मूर्ति और भी अधिक आकर्षण का केन्द्र बन गई । वह अपने भाई जयमल और अन्य सहेलियों के साथ कृष्ण-गोपियों की भांति मिचौनी के खेल खेलती कभी "म्हारो चाकर गिरधारीलाल" का गीत गाती और कभी अपने दादाजी से पूछती —

ब्रह्म है क्या, कैसा आकार ?
ब्रह्म का क्या आकार प्रकार ?
ब्रह्म में ही होना लय लीन ।
व्यर्थ है सब आचार विचार ।

दादाजी उसे नाना प्रकार से समझाते पर उस नन्हीं बालिका की बुद्धि में सब बात ठीक से नहीं बैठ पाती और वह मन ही मन इस प्रकार के प्रश्नों में उलझी रहती :—

सोचती क्यों होता है जन्म ?
मृत्यु क्यों ? कहां पूर्ण अवसान ?
सृष्टि क्या है ? क्या है जग जीव ?
नहीं या है ? क्या है भगवान् ?

तरुणी होने पर मीरां के हृदय में कुछ परिवर्तन हुआ। अब अपनी विवाहिता सखी सहेलियों से बात चीत करने में उसे आनन्द आने लगा —

ससुरालय से पीहर आती
जितनी भी नव दुलहिन परिचित।
उनके सम्पर्कों में वह नित
प्रिय की अनुभूतिमयी बातें।
सुन सुन कर अविरल सुख पाती।

अपने अमर सुहाग की कामना में वह पार्वती का पूजन करती कार्तिक में प्रात स्नान करती मंदिर में दीप जलाती। सखियां उससे कवितायें सुनती बीणा बजवाती और उसे नचाती।

सखियां मीरां से हँसी मजाक करतीं और कहती कि इनके वर तो काले हैं। वे तो दुनियां से निराले हैं इन्हें दुनियां से कोई मतलब नहीं है,केवल —

नटवर नागर मोहन गिरधर
हैं जन्म जन्म के इनके वर।
यह तो उन पर ही लट्टू है।

धीरे-धीरे वह स्वर्ण दिन भी आया जब मीरां विवाहित होकर अपनी ससुराल बिदा हुई। मातृहीन बालिका ससुराल जाते समय फूट फूट कर रो रही थी। सखियां उन्हें साहस बंधा रही थी। ससुराल पहुंच कर नव वधू का पूर्ण स्वागत हुआ। किन्तु 'गिरधर नागर' के लिये मीरां का प्रेम यहाँ उपहास का विषय बन गया। बेचारी मीरां अभी चुप थी। यौवन की शराब से बेहोश मीरां के पति कुंवर भोजराज भौतिक भोग-विलासों में मस्त थे। उनके जीवन का सिद्धांत था —

और सुनो यौवन के क्रम में मद्य तप आप नहीं है।
क्रम नहीं है कर्म नहीं है ईश्वर, पाप नहीं है॥
आओ आओ, मौं न गँवाओ थोड़े से यौवन को।
छोड़ चला जायेगा यों ही एक दिवस इस तन को॥

सुनने में तो ये बातें अच्छी लगती थी पर मीरां के जीवन का आदर्श कुछ दूसरा था। वह भौतिक जीवन को नश्वर समझती थी अतः चिरन्तन सत्य को पाने के लिये व्यग्र रहती थी। वह कहती थी –

यदि भौतिकता ही जीवन हो, नर क्यों मर जाता है,
सब कुछ साधन रहते फिर क्यों ? लौट नहीं पाता है।
हमने तो यौवन के भागी सब रोते देखे हैं
और अन्त में आत्मिक सुख में सब हाते देखें हैं।

मीरां तो 'गिरधर गोपाल' को ही इस दुनिया से ऊंचा मानती थी और उन्हीं का एक मात्र सत्य समझती थी। एक दिन मीरां के पति ने मीरा से शिकार खेलने का आग्रह किया पर मीरां जैसी दयावती नारी इस हत्या को कैसे सहन कर सकती थी। उसने पति को नाना प्रकार से समझाया पर उनकी समझ में एक बात न आई। वह कहने लगे कि सारा संसार ही एक दूसरे की हत्या में लीन है फिर हम ही क्यों इससे बच कर दूर रहें ?

मीरां ने पुनः समझाया कि –
यह मुख मांस का सम्मिश्रण व्यभिचार बढ़ाया करता है।
स्त्री का सतीत्व कुछ टुकड़ों पर जिससे लुट जाया करता है॥
मीरां के इन उपदेशों पर पति महोदय भन्ना उठे और बोले –
नारी तो नर की दासी है नर के टुकड़ों पर पलती है।
नर के इंगित पर जीवन भर कठपुतली सी क्यों चलती है॥

इतनी बात सुनकर अभिमानिनी मीरां का स्वाभिमान जाग उठा। उसके नेत्र क्रोध से लाल हो गये। वह बोली –

नारी जिसके वैभव बल पर, सब काम जगत् के चलते हैं।
पर अध पतन उसका कितना उसको नर कामी छलते हैं॥

यह क्रोध से वहाँ से उठ कर चल पड़ी पति ने हाथ पकड़ लिया पर मीरां अपना तिरस्कार सहन न कर सकी। उसने नारी की शक्ति का पूर्ण विस्तार से वर्णन किया और पति को समझा दिया कि नारी को दासी समझना पुरुष की बड़ी भारी भूल है।

कवि ने मीरां के जीवन का यह अभिनव रूप उपस्थितकर नारी प्रधान आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की शृंखला में एक और कड़ी जोड़ दी है।



# महादेवी वर्मा

आधुनिक हिन्दी काव्य में श्रीमती महादेवी वर्मा का बड़ा ऊँचा स्थान है। हिन्दी की 'छायावादी और रहस्यवादी' काव्य धारा में आपका नाम सर्वाधिक महत्त्व रखता है क्योंकि इन्होंने प्रमुख रूप से रहस्यवादी काव्य की रचना की है। रहस्यवाद का मोटे रूप में तात्पर्य है निर्गुण ब्रह्म से जीवात्मा का आत्म निवेदन। इसमें जीव परमात्मा से विविध लौकिक संबंध स्थापित कर उससे आत्म निवेदन करता है। कभी ईश्वर को माता बनाकर कभी पिता स्वामी या सखा और प्रियतम बनाकर। महादेवी वर्मा ने ईश्वर को प्रियतम मानकर अपने हृदय की व्यथा काव्य में व्यक्त की है। रहस्यवाद में ईश्वर का प्रियतम रूप ही सबसे अधिक मधुर होता है। महादेवीजी की 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' चारों प्रसिद्ध रचनाओं में वेदना विरह और पीड़ा के मधुरतम भाव व्यक्त हुए हैं। इनकी कविताओं में पीड़ा का ऐसा अद्भुत साम्राज्य है कि पाठक यह सोचने के लिये विवश हो जाता है कि कवियत्री की यह वेदना लौकिक है या अलौकिक। इनकी कविताओं को पढ़कर ऐसा भ्रम होता है कि इनके जीवन में किसी न किसी प्रकार का दुःख या अभाव रहा है। किन्तु महादेवी वर्मा स्वयं और उनका जीवन इतिहास इस बात को सिद्ध करने में सहायक नहीं होते। इनके परिवार में कोई कन्या नहीं थी। बड़ी पूजा पाठ और मान्यताओं के बाद वरदान स्वरूप इनका जन्म हुआ। अतः सम्पूर्ण परिवार का अमित दुलार इन्हें प्राप्त हुआ। इनके पिता श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा पूर्ण साधन सम्पन्न नामी वकील थे। पुत्री की सुख सुविधा का उन्होंने पूरा ध्यान रखा। शिक्षा के साथ इन्हें चित्रकला और संगीत शिक्षा सिखाने का भी प्रबन्ध किया। अतः महादेवी वर्मा को बाल्यकाल में किसी प्रकार का अभाव

रहा हो यह अकल्पनीय है। ६ वर्ष की उम्र में इनका विवाह डा० स्वरूप नारायण से हुआ। उस समय छोटी अवस्था के कारण विवाह क्या होता है इसकी इन्हें चेतना भी न थी। ससुराल वालों ने ५, ६ वर्ष के लिये इन्हें माता-पिता के ही घर छोड़ दिया। उस बीच ये अध्ययन करती रहीं। बी ए में इन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। उसमें महात्मा बुद्ध के जीवन और सिद्धान्तों से ये इतनी प्रभावित हुई कि इन्होंने भिक्षुणी बनजाने का निश्चय कर लिया और ससुराल जाने से मना कर दिया। परिवार वालों ने इन्हें भिक्षुणी तो नहीं बनने दिया किन्तु इनका ससुराल न जाना स्वीकार कर लिया। तब से महादेवी वर्मा वास्तविक रूप में भिक्षुणी न होते हुए भी लगभग भिक्षुणी का सा जीवन व्यतीत कर रही हैं। शरीर पर श्वेत खादी की साड़ी उनकी वेशभूषा है। घर में एक ओर सजे महात्मा बुद्ध ईसा गांधी और रवीन्द्र के चित्र तथा दूसरी ओर सरस्वती और श्रीकृष्ण की मूर्तियाँ एक आश्रम की सी झलक प्रस्तुत करती है।

तब कविता में व्यक्त इनकी पीड़ा और वेदना का रहस्य क्या है? मेरे विचार में जैसे कुछ आत्माएँ स्वभावतः सांसारिकता से विरक्ति का भाव लेकर जन्म लेती हैं, संसार के अपार वैभव भी उन्हें आकर्षित नहीं कर पाते वे दूसरों की पीड़ा और वेदना से व्यथित रहती हैं वैसी ही अनुभूति महादेवीजी के हृदय मे विद्यमान है। उनका हृदय इतना कोमल और करुणापूरित है कि वेदना उनका स्वभाव बन गई है। वे इसी में अपार आनन्द का अनुभव करती हुई कहती हैं —

> अपने इस सूने पन की मैं हूं रानी मतवाली
> प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली।
> मेरी आहें सोती हैं इन ओठों की ओटों में
> मेरा सर्वस्व छिपा है इन दीवानी चोटों में।

युवावस्था में जब जगत् और प्रकृति के विषय में इन्हें कुछ चेतना हुई तब हृदय में जो भाव उठते थे उनका वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है —

किस भाँति कहूँ कैसे थे, वे जग से परिचय के दिन ?
मिश्री सा घुल जाता था मन छूते ही आँसूकण।
अपनेपन की छाया तब देखी न मुकुर मानस ने
उसमें प्रतिबिम्बित सबके सुख दुख लगते थे अपने।

प्रारम्भ से ही जगत् की पीड़ा ने महादेवीजी के हृदय में असीम पीड़ा को जन्म दे दिया था। उस समय कवयित्री के मन में आँसू और हँसी एक विचित्र क्रीड़ा सी करते रहते थे। मन विस्मय विमुग्ध था और संसार पीड़ा मौन रहा था ऐसी पीड़ा जो दुःखित प्राणियों को अपने लगा सके। कवयित्री के अनुसार ये संसार के दो परस्पर विपरीत छोर थे –

यह दोनों दो ओरें थीं संसृति की चित्रपटी की।
उस बिन मेरा दुख सूना, मुझ बिन वह सुषमा फीकी।
किसने अनजाने आकर, वह लिया चुरा भोलापन ?
उस विस्मृति के सपने से चौंकाया छूकर जीवन।

महादेवी वर्मा की कविता में जितनी वेदना और करुणा है जीवन में वे उतनी ही हँसी से भरपूर हैं। इसका कारण उन्होंने स्वयं लिखा है –

स्मित बन कर नाच रहा है, अपना लघु सुख अधरों पर।
अभिनय करता पलकों में सबका दुख आँसू बनकर।

उनकी हँसी उनके सुखी जीवन की साथ है और आँसू संसार के दुःखी जीवन के प्रतीक हैं। धूप में तड़पती तितली की पीड़ा से कितने मन व्यथित हुए हैं ? बादलों की आशा में चातक को रोते देखकर कितनी आँखों से आँसू बहे हैं ? पर कवयित्री इन्हें देखकर अश्रु विगलित हो उठती थी –

जब प्रेमी को रोता था जब चातक का बालक मन,
इन आँखों में करुणा के घिर घिर आते थे सावन।

किरणों को देख चुराते चित्रित पंखों की माया।
पलकें आकुल होती थीं तितली पर करने छाया।

इस भाँति मनुष्य से लेकर समस्त जड़ चेतन प्रकृति कवयित्री की अथाह करुणा के पात्र हैं। इस कठोर निर्मम जगत् के अनुरूप अपने आपको न पाकर वे अनुभव करती हैं —

मधुमय कोमल कहाँ तू आगई परदेशिनी री।

ऐसा करुणामय कोमल हृदय पाकर महादेवीजी के लिये यह असम्भव था कि वे संसार के किन्हीं सीमित संबंधों में अपने आपको बद्ध कर पातीं। उनकी करुणा और पीड़ा ने उनका संबंध उस चिरन्तन सत्ता से जोड़ दिया जिसे पाकर वे 'प्रिय चिरन्तन है सजनि क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं' का गौरव प्राप्त कर सकी हैं। इस एक संबंध से संसार के सारे संबंध उनके लिये मधुर हो गये हैं। उन्होंने लिखा है —

'मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।

किन्तु ऐसा प्रियतम पाकर क्या उनकी वेदना समाप्त हो गई? नहीं—वह तो चिरस्थायी है क्योंकि उसी ने तो प्रियतम की अनुभूति कराई है इसीलिये वे कहती हैं —

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा
तुम को पीड़ा में ढूंढा तुम में ढूंढूंगी पीड़ा।

दुःख में भगवान् को ढूँढना या उसका आभास पा लेना कितना स्वाभाविक है। जो दुःख इतनी अमूल्य वस्तु प्रदान करे उसे छोड़ा भी कैसे जाय? ईश्वर से मिलन की आकांक्षा उन्हें रहती है जो इस विश्व के दुःखों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु महादेवी का जीवन सिद्धांत इसके विपरीत है। वह चाहती हैं —

मिलन का मत नाम ले सखि मैं विरह में चिर हूँ।

ईश्वर से मिलन का तात्पर्य है अमरलोक की प्राप्ति जिसमें अक्षय आनन्द है। किन्तु वेदना और अवसाद रहित आनन्द भी कोई आनन्द है? इसीसे कवयित्री उसे अस्वीकार करती हुई कहती है ~

ऐसा तेरा लोक वेदना नहीं नहीं जिसमें अवसाद।
जलना जाना नहीं, नहीं जिसने जाना मिटने का स्वाद।
क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।

किसी की प्रतीक्षा में दिन बिताना जितना मधुर है उतना उसकी प्राप्ति का सुख मधुर नहीं होता है। दूसरों के लिए जलते रहना जीवन का लक्षण है। महादेवी अपने जीवन को दीपक की भाँति जलते रहने के लिये प्रेरित करती है ~

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल।
प्रियतम का पथ आलोकित कर
सौरभ फैला विपुल धूप बन
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल गल।

इस प्रकार महादेवीजी की रहस्य भावना परंपरागत रहस्य भावना से भिन्न उनकी निजी अनुभूति पर अवलंबित है। यद्यपि अन्य रहस्य वादियों की भाँति प्रकृति के सौन्दर्य में उन्हें भी प्रियतम के दर्शन होते हैं उसके मौन संकेत दिखाई देते हैं यथा –

कुमुद दल से वेदना के दाग को
पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ
चौंक उठती अनिल के निश्वास छू
तारिकायें चकित सी अनजान सी

तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत सा वह कौन है ?

कभी शीतल मन्द पवन उन्हें छूकर किसी मधुमय जीवन का स्मरण करा देती है जिससे प्रिय के मिलन के लिये उतावली होकर सोलह शृंगार सजाती हैं। किन्तु इस रहस्य में जो माधुर्य है और करुण पीड़ा की जो निश्छल अभिव्यक्ति हुई है वह अन्यत्र नहीं मिलती। महादेवीजी के गीत अपने माधुर्य और सहज अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी साहित्य में अपना विशेष गौरव रखते हैं। भावों की गहनता और भाषा की क्लिष्टता के कारण महादेवीजी की रचनायें जनसामान्य की पहुँच से दूर हैं किन्तु जो उनके मर्म को समझते हैं वे उन्मुक्त कंठ से इनके गीतों की प्रशंसा करते हैं। इन्होंने साहित्य को ऐसी वस्तु प्रदान की है जो युगों तक अमर रहेगी।

इस समय आप ६८ वर्ष की हैं। हिन्दी जगत् ने अपनी इस काव्य कोकिला के प्रति आदर और श्रद्धा के सुमन 'महादेवी अभिनन्दन ग्रंथ' के रूप में अर्पित किये हैं।

---

# 'चित्रलेखा' की मर्म कथा

मैं चित्रलेखा हूं—'चित्रलेखा' उपन्यास की नायिका। मेरे नाम पर इस उपन्यास का नामकरण हुआ है यह मेरे लिये गौरव की बात होनी चाहिये थी किन्तु इसमें सबसे अधिक ठेस मेरे हृदय को लगी है। मैं सत्य कहती हूं कि मैं इस उपन्यास की सबसे अधिक दुर्बल पात्र चित्रित की गई हूं-ऐसी दुर्बल जो अपने जीवन में कभी किसी एक सिद्धांत पर स्थिर नहीं रह सकी है।

लेखक ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ? बात यह है कि वह अपने कुछ विशिष्ट जीवन सिद्धांतों की पुष्टि के लिये किसी के जीवन को अपना साधन बनाना चाहता था। उसे बताना था कि 'संसार में पाप कुछ भी नहीं है वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है। वह परतंत्र है और परिस्थितियों का दास है। क्या कोई भी व्यक्ति बता सकता है कि वह क्या करने जाता है ? क्या करना चाहता है ? और क्या करेगा ? नहीं। यही तो सब नहीं। एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती है। मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नहीं। वह कर्ता नहीं है। साधन मात्र है। फिर पाप और पुण्य कैसा ?

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिये उपन्यास में मेरा जीवन साधन रूप में प्रयुक्त हुआ है। लेखक ने मुझे अपनी कल्पना का ऐसा खिलौना बनाया है जिसे जब समय चाहा मन्दिर की मूर्ति बनाकर पूजा और जब चाहा निर्ममता से उठाकर फेंक दिया है। यदि पाप पुण्य की उसकी स्वयं निर्धारित कसौटी उपन्यास के सभी पात्रों पर समान रूप से लागू की गई होती तो मुझे कम से कम इतना सन्तोष रहता कि वह मेरे जीवन से ही नहीं खेला अपितु सबको उसने समय चक्र का खेल खिलाया है।

किन्तु आश्चर्य यह है कि अन्य पात्र परिस्थितियों के चक्र में फँसकर भला बुरा करने पर भी किसी न किसी प्रकार पाठकों की सहानुभूति पाने या स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने में समर्थ हुए हैं एक मैं ही ऐसी असहाय छोड़ दी गई हूँ। जिसके पास अपने कृत्यों का कोई प्रति कार नहीं। प्रत्येक व्यक्ति मुझे ही दोषी बताकर मुझे धिक्कारता हुआ दिखाया गया है। लेखक ने मुझे वैभव-विलास की मदिरा में निमग्न वासना की ऐसी पुतली बनाया है जिसके जीवन का मूलमंत्र अविकल काम पिपासा है जो कभी शान्त नहीं होती और जो अपने रूप सौन्दर्य से योगियों का योग भ्रष्ट करने में समर्थ है। नारी का यह विकृत रूप चित्रित करते करते पुरुष हृदय अभी तक थका नहीं है। कौन ऐसी स्वाभिमानिनी नारी होगी जिसे अपना यह रूप प्रिय हो अथवा जो किसी को अपने जीवन से खिलवाड़ करने के लिए इस प्रकार स्वतन्त्र छोड़ दे? मुझे दुःख है कि सामन्त बीजगुप्त की प्रिय नर्तकी होने के नाते ही जीवन का सारा कलुष मुझ पर थोपकर उपन्यास में झूठे सच्चे और निराधार सिद्धांतों की पुष्टि का प्रयत्न किया गया है।

बात इतनी थी कि महाप्रभु रत्नाम्बर के दो शिष्य श्वेतांक और विशालदेव जानना चाहते थे कि पाप क्या है? गुरुदेव स्वयं इस कठिन प्रश्न का समाधान नहीं कर पाते थे अतः उन्होंने पाप का पता लगाने के लिए दोनों शिष्यों को संसार के विशाल क्षेत्र में छोड़ दिया। अध्ययन से यह विषय जानना कठिन था इसके लिये अनुभव की आवश्यकता थी। श्वेतांक को उन्होंने बीजगुप्त का शिष्य बनाया क्योंकि बीजगुप्त का जीवन भोगमय था उसके जीवन का सारा सुख रत्न-जटित मदिरा के पात्रों में था और उसका हृदय संसार की समस्त वासनाओं का निवास-स्थान था। यहाँ रहकर पाप का अनुभव करना सरल था। विशालदेव को आचार्य ने कुमारगिरि का शिष्य बनाया क्योंकि कुमारगिरि ने समस्त वासनाओं पर विजय प्राप्त करली थी। वासनाओं के कारण ही मनुष्य पाप करता है। कुमारगिरि पापों से बहुत दूर तप और संयम का जीवन

व्यतीत करते थे। कुमारगिरि के पास रहकर पाप की नहीं पुण्य की जानकारी प्राप्त हो सकती थी। जो पुण्य नहीं वह पाप है। तब इसकी जानकारी क्या कठिन थी ?

जिस समय श्वेतांक बीजगुप्त के भवन में आया, बीजगुप्त ने उसे स्पष्ट रूप से बता दिया कि चित्रलेखा मेरी पत्नी के बराबर है अतः वह तुम्हारी स्वामिनी है। मुझे उस ब्रह्मचारी की स्वामिनी बनने म गौरव का अनुभव हुआ। मैं उस समय यह नहीं समझ पाई थी कि इसमें भी कुछ भेद है। मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि मैं श्वेतांक की स्वामिनी इसलिये बनाई गई हू कि मैं उसे पाप की जानकारी करा सकूं उसे मदिरा पीना सिखा सकू और उसे अनुभव करा सकू कि नारी के सौन्दर्य और नारी के स्पर्श में क्या मादकता है।

वह २५ वर्ष का युवा ब्रह्मचारी मेरी चाकरी पर छोड़ा गया जिससे वह मादकता, उन्माद और वासना का पाठ सीख सके। उसे मेरे हाथ से मदिरा पिलाकर मुझे बीजगुप्त द्वारा इन शब्दों में बधाई दिलाई गई, "ब्रह्मचारी आज तुम्हें नर्तकी ने दीक्षा दी है इसके उपलक्ष में मैं चित्रलेखा को बधाई देता हूं। बीजगुप्त की इस बधाई में कितना व्यंग्य निहित है क्या मैं नहीं समझती। श्वेतांक बीजगुप्त के इन शब्दों पर चौंक उठता है उसकी मोह निद्रा एकदम भंग होती है और उसके हृदय में इतनी प्रतिक्रिया होती है कि आवेश म वह मेरा हाथ पकड़कर मुझसे पूछता है देवि! आज तुमने मेरी साधना चूर चूर करदी। तुमने यह क्यों किया? तुमने मेरे हृदय में ज्वाला प्रज्वलित कर दी है। किस लिये? मेरे जीवन में तुम बवण्डर बनकर एकाएक क्यों आ पड़ी?" श्वेतांक के प्रश्न पर मेरा जी चाहता है कि श्वेतांक की गिरा पकड़कर पूछू कि उदण्ड युवक! जब तुम पीने वाले को ही होश नहीं तो पिलाने वाले का क्या दोष? पर आश्चर्य! लेखक न इसके विपरीत मुझे श्वेतांक के सामने अपराधी ठहराकर क्षमा मांगने के लिये बाध्य किया है। एक धनवान प्रवीण बालक का यौवन भी

मादकता का शिकार बनाने के लिये मुझे स्वयं व्यथित होते दिखाया गया है।

श्वेतांक का मदिरा पीना पर-स्त्री का स्पर्श करना और उससे प्रेम करना *अनुचित नहीं बताया गया क्योंकि उसमें श्वेतांक का दोष नहीं* परिस्थितियों का दोष है। उसे बीजगुप्त ने सांत्वना दी कि तुमने कोई अपराध नहीं किया। अपराध कर्म में होता है विचार में नहीं। जरा इस तर्क को मुझ पर लगा कर देखिये। मुझसे कर्म कराया गया है विचार नहीं तब क्या इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि अपराधी मैं हूँ।

एक के बाद एक अपराध मुझसे कराया गया है और सर्वत्र मुझे उसके लिये लज्जित किया गया है। मेरे हृदय में कभी इतना रोष उत्पन्न नहीं किया गया है कि मैं इसका प्रतिकार कर सकूं और सच्चे अपराधी को मुंहतोड़ जवाब दे सकूं। मानो मेरा हृदय रक्त-मांस का बना हृदय नहीं काठ का ऐसा टुकड़ा है जिसे काट-पीट कर कहीं भी किसी प्रकार भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जीवन के प्रारम्भ से मैंने अपने साथ लेखक का यही व्यवहार पाया है। मैं नर्तकी क्यों बनी ? इसका रहस्य केवल यह था कि मेरे पास जीविका के साधन नहीं थे। १८ वर्ष की विधवा स्त्री को संसार में फुसलाने-बहलाने वाले बहुत होते हैं किन्तु उसके पालन-पोषण की चिन्ता किसी को नहीं होती। विवशता में मुझे नर्तकी बनना पड़ा। पर लेखक को क्या पड़ी जो सत्य कहे। उसे तो अपने मत की पुष्टि करनी है। इसीलिये उसने मेरे बारे में बताया कि यौवन के उभार से मेरा संयम टूट गया। मैंने कृष्णादित्य नाम के युवक से प्यार किया गर्भवती होने के कारण घर से निकाल दी गई और तब एक नर्तकी ने मुझे आश्रय दिया। फिर मैंने बीजगुप्त से प्रेम किया और उसकी पत्नी के समान बनकर रही। क्या नर्तकी होने का तात्पर्य केवल यही है कि वह पुरुषों के जीवन से खेले और उन्हें अपने रूपजाल में फँसाकर बोझा दे ? उपन्यास में मुझे कितने पुरुषों के जीवन का अभिशाप बनाकर दिखाया गया है। बीजगुप्त के बाद श्वेतांग श्वेतांक के

बाद कुमारगिरि और कुमारगिरि के बाद पुन: बीजगुप्त के साथ मेरे वासनात्मक संबंध दिखाकर मुझे अनन्त वासनामयी चित्रित करने के अतिरिक्त सम्पूर्ण उपन्यास में और किया ही क्या गया है ?

योगी कुमारगिरि, जिनके आश्रम में विशालदेव पाप की खोज में गया था बहुत संयमी दिखाये गये हैं। वे संसार से बहुत ऊँचे उठ चुके हैं। उन्होंने विशालदेव से कहा है कि 'संयम और नियम से पाप दूर रहता है। मेरी कुटिया में तुम्हें संयम से रहना होगा। यहाँ भी लेखक ने बीजगुप्त के साथ मेरा अनावश्यक प्रवेश करा के मुझे कुमारगिरि के पतन का कारण बनाया है। कुमारगिरि मुझे देखकर प्रारम्भ में ऐसे चौंकते हैं जैसे उन्हें बिच्छू ने डंक मार दिया हो। वे मेरा अपमान करते हुये बीजगुप्त से कहते हैं—'अतिथि ! मैंने इस कुटी में स्त्री को आश्रय देने में संकोच किया था। वह इसलिये कि स्त्री अन्धकार है मोह है, माया है वासना है। ज्ञान के आलोकमय संसार में स्त्री का कोई स्थान नहीं। कुमारगिरि के इस कथन पर एक साधारण स्त्री को भी रोष आना स्वाभाविक है किन्तु इतनी अपमानित होकर भी जो स्त्री उसी पुरुष से प्रेम करने के लिये लालायित हो उसके जीवन को धिक्कार है। मेरे और कुमारगिरि के बीच इतने भद्दे और वासनात्मक प्रेम का प्रदर्शन करके लेखक ने अपनी विकृत रुचि का परिचय दिया है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में कुमारगिरि को मेरे ज्ञान और तर्क से प्रभावित दिखाना तो एक बहाना है। उसकी आड़ में जो बात वह दिखाना चाहता है वह यह है कि मैं युवा कुमारगिरि के सौन्दर्य से आकर्षित हूँ और दीक्षा लेने के बहाने उसके अत्यन्त निकट आना चाहती हूँ। बीजगुप्त के हृदय में मेरी ओर से शंका उठाना और श्वेतांक के सामने मेरे मुख से ही कुमारगिरि के प्रति मेरे प्रेम की स्वीकृति कराना ये दोनों तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि मेरी वासना कुमारगिरि को पथभ्रष्ट करने के लिये आतुर है। इसमें संदेह नहीं कि मेरे साथ कुमारगिरि की वासना को भी पूर्ण होते दिखाया गया है किन्तु उसके लिए लेखक ने ऐसा

वातावरण तयार किया है कि जिसमें पाठक कुमारगिरि को दोषी न मानकर मुझे ही उसके पतन का मूलकारण मानते हैं। स्त्री का सम्पर्क किसे नहीं पराजित कर देता ? पाठकों की दृष्टि में कुमारगिरि के पतन को परिस्थितियों का दोष बताने में लेखक ने कुछ उठा नहीं रखा। उसे ऊँचा उठाने के लिए पहले ही लेखक ने उसके मुख से कहला दिया है 'नर्तकी तुम्हें दीक्षा देने के अर्थ होते हैं गिरना नीचे गिरना। कहाँ? नीचे ही नीचे जहाँ अन्त हो नहीं है। मैं तुम्हें जानता हूँ और मैं अपने को भी जानता हूँ। तुम्हें ऊपर उठाना कठिन है, स्वयं नीचे गिरना सरल है।' यदि मेरे चरित्र की रक्षा के लिये लेखक मुझसे भी कहीं इस प्रकार कहला देता तो शायद उसकी भावनाओं पर ठेस लगती। मुझे तो उसने कुमारगिरि के स्वाद से आनन्द का अनुभव करते दिखाया है। जो कोई इसमें बाधा डालता है उस पर मुझे सर्पिणी की भाँति फुफकारते हुए चित्रित किया है। मेरे जीवन को इस प्रकार मनमाने ढंग से बदनाम करने की लेखक ने अनधिकार चेष्टा की है। निश्चय ही यह मेरे साथ अन्याय है। मैं मानती हूँ कि एक या दो स्थान पर मुझे कुमारगिरि के प्रभाव से तप और साधना की ओर आकर्षित होते दिखाया है किन्तु सब जानते हैं कि यह आकर्षण कितना अस्थाई है। कुमारगिरि के निश्चय के सामने वह ओस की बूँद की भाँति ढुलक जाता है। जिस समय कुमारगिरि पर मेरा रोष प्रकट करते हुए मेरे मुख से उसे वासना के कीड़े! नीच! कूढ़े पशु! आदि नामों से संबोधित कराया गया तब यह समझना कि लेखक ने मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट की है नितांत भ्रम है। यह सब ढोंग इसलिए रचा गया है कि मेरे पतन की अभी एक और सीढ़ी दिखाना बाकी है। कुमारगिरि को अपना अपमान असह्य हुआ अतः वह खड़ा होकर चीखने लगा 'जाओ नर्तकी! मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं तुमने मुझे गिराया और तुम मुझे उठा भी रही हो। तुमने सिर्फ मुझे पराजित किया—मैंने भी तुम्हें पराजित किया। तुम मुझसे क्या कहती हो? पहले अपने को देखो

अपने मुख पर पाशविकता की छाया को देखने में तुम समर्थ नहीं हो सकोगी—इतना मैं जानता हूँ। जाओ अपने साथ अपना अभिशाप लेती जाओ। कुमारगिरि द्वारा ही नहीं उसके शिष्य विशालदेव से भी मुझे प्रताड़ित कराया गया है। विशालदेव की क्या हस्ती है जो वह मुझे कहे 'देवि चित्रलेखा ! तुम्हारी उपस्थिति इस कुटी की संयमपूर्ण शान्ति को नष्ट कर रही है मैं प्रार्थना करता हूँ तुम हम लोगों पर दया करो।" पर लेखक ने तो पात्रों का मुझे प्रताड़ित करने के लिये ही गढ़ा है। फिर वह ऐसा क्यों न कहे ? विशालदेव की बात के उत्तर में जो शब्द मेरे मुख से कहलाये गये हैं वह सारे उपन्यास में चित्रित मेरे चरित्र को स्पष्ट करने में सबसे अधिक उपयुक्त कहे जा सकते हैं। उसने मुझ से कहलाया है "दया ? किस पर दया करने को कह रहे हो और किससे दया करने को कह रहे हो ? तुम वधिक से दया की याचना करते हो तुम संहारकर्त्ता से निर्माण कराना चाहते हो। भूलते हो ! भूलते हो ! अब तो पाठक समझ सकेंगे कि इस उपन्यास पर मैं गौरव अनुभव करूँ कि हृदय में व्याप्त वेदना और आक्रोश के भार से अपना गला घोट लूँ।

एक और बात रह गई है जिसे कहे बिना कथा पूरी नहीं होगी। वह है उपन्यास में मेरे और बीजगुप्त के चरित्र का तुलनात्मक परिचय। बीजगुप्त भोगी है उसके हृदय में समस्त वासनाओं का निवास बताया गया है। वह नास्तिक भी है। मदिरा का अनन्य पुजारी है। इन सब कमजोरियों के होते हुए भी वह अपने प्रेम में एकनिष्ठ दिखाया गया है। मृत्युंजय भरसक प्रयत्न करते हैं कि अपनी कन्या यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से कर दें। किन्तु बीजगुप्त उनसे स्पष्ट कहता है—"समाज की दृष्टि में मैं अविवाहित हूँ पर वास्तव में मैं विवाहित हूँ। मेरा और चित्रलेखा का संबंध पति-पत्नी का सा है। मैं प्रेम में विश्वास करता हूँ। चित्रलेखा के रहते मेरे प्रेम की अधिकारिणी दूसरी स्त्री नहीं हो सकती। कितना सुन्दर भाव है ! यद्यपि यशोधरा और मेरे रूप और कुल की तुलना करने में बीजगुप्त को आकाश पाताल का अन्तर दिखाई देता

है वह यशोधरा के भोलेपन और देवी स्वरूप पर मन ही मन मुग्ध भी है, किन्तु फिर भी उसका हृदय गवाही नहीं देता कि वह मुझे छोड़कर यशोधरा से विवाह करे। मेरे बात समझाने पर भी वह यही उत्तर देता है 'मैंने अपने जीवन में केवल तुमसे प्रेम किया है और साथ ही तुम्हारे सिवा किसी से प्रेम नहीं कर सकता। मेरा विवाह असम्भव है। प्रेम की इस एकनिष्ठता में मेरे प्रेम का रूप देखिये जो बीजगुप्त और कुमार गिरि दोनों को एक साथ धोखा दे रहा है। कुमारगिरि से अपना प्रेम छिपाती हुई मैं बीजगुप्त से कहती हूँ प्रियतम। कुमारगिरि योगी है और मूर्ख है। उसकी आत्मा मर चुकी है। प्रियतम ! संसार में कोई भी व्यक्ति हम दोनों के बीच नहीं आ सकता। दूसरी ओर कुमारगिरि से कहती हूँ—'मैं आपको धोखा नहीं दे सकती। बहुत सम्भव है मैं बीजगुप्त को धोखा दे रही हूँ। मेरे इस छलनामय प्रेम का कोई अन्त है। शूर्पणखा की भांति एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद पहले को अपना प्यार अर्पित करते दिखाकर लेखक ने मुझे राक्षसी रूप प्रदान किया है। जीवन की यह विडम्बना किसे सह्य होगी ! बीजगुप्त को पाठकों के हृदय में कितना ऊंचा स्थान दिलाया गया है। किसके मूल्य पर, मेरे ही न ? मेरी समस्त मानवीयता मेरी भावना मेरा नारीत्व और सबसे ऊपर मेरा चरित्र नष्ट करके लेखक भले ही किसी नये आदर्श की स्थापना में फूला न समाया हो किन्तु मेरी मर्म व्यथा—एक नारी की मर्म व्यथा—उसे कभी क्षमा नहीं करेगी !

---

# सहानुभूति की पात्र – मांडवी

रामायण के सभी नारी पात्र सहानुभूति और संवेदना के पात्र हैं क्योंकि राम का जीवन दुःख और वेदना की लम्बी कहानी है। माता कौशल्या के हृदय से पूछिये जिसका एकमात्र पुत्र उनकी वृद्धावस्था में १४ वर्ष की लम्बी अवधि के लिये वन चला गया वह भी किसी अपराध के कारण नहीं केवल सपत्नी की ईर्ष्या से। १४ वर्ष बाद राम के लौटने पर कौशल्या उनका मुख देख सकेंगी या नहीं केवल विधाता जानता था। इसी प्रकार सुमित्रा और कैकेयी १४ वर्ष के लिये अपने पुत्रों से वियुक्त हो गईं। भरत भले ही अयोध्या से कुछ दूर नन्दिग्राम में रहते थे किन्तु कैकेयी से उनका नाता टूट सा चुका था। इसके अतिरिक्त यदि दशरथ कुल की पुत्रवधुओं पर दृष्टिपात करें तो हृदय की सारी सहानुभूति और वेदना उनके दुःख में डूबी दिखाई देगी। हमें ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलेंगे जिसमें किसी को राजकुल में पली और राजकुल में ब्याही हुई राजा जनक की कुसुम सी कोमल राजकुमारियों के समान जन्म भर वेदना में तड़पना पड़ा हो। सीता के भाग्य में मानो सुख बदा ही न था। जो राजरानी होने जा रही थी उसे काँटों में चलना पड़ा पत्थर पर सोना पड़ा। उर्मिला ने पति की प्रतीक्षा में १४ वर्ष तक रो-रोकर अपने जीवन का सुनहरा समय खो दिया। उसके जीवन का आकर्षण ही समाप्त हो गया। तीसरी बहन भरत की पत्नी मांडवी है। इसका जीवन अपनी इन दो बहनों से भी ज्यादा कष्टकर है। किन्तु कवियों की महिमा देखिये कि इस बेचारी के लिये उन्होंने सहानुभूति के दो शब्द कहीं नहीं लिखे। तुलसी और वाल्मीकि ने तो उर्मिला को भी उपेक्षित कर दिया था किन्तु मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में उर्मिला के दुःख में सहानुभूति अनुभव कर उसकी वेदना

को काफी प्रदान की है। बेचारी मांडवी की व्यथा अभी तक मूक है वह दशरथ कुल की सबसे उपेक्षित पुत्रवधू है। मांडवी का त्याग सीता और उर्मिला से किसी प्रकार कम नहीं है और मेरे विचार में तो उन दोनों से अधिक है क्योंकि सीता राम के साथ थीं उन्होंने केवल पति का नाता ऊंचा मानकर अन्य सब नाते तोड़ दिये थे। सीता को पति के साथ कुटिया में राजभवन का सा आनन्द प्राप्त था। उर्मिला को एक सहारा था कि उसके पति बहुत दूर राम की सेवा में पुण्यार्जन कर रहे हैं। लक्ष्मण राम की सेवा के लिये अथवा भ्रातृप्रेम के कारण वन गये थे इसलिये उनका महत्व सबकी आंखों में बढ़ गया था। कौसल्या और सुमित्रा दोनों ही उर्मिला को सहानुभूति की दृष्टि से देखती थीं किन्तु मांडवी की दशा इन सबसे विपरीत है। उसके पति के सिर पर कलंक है अतः आत्मग्लानि से वे दिन रात गलते रहते हैं। भरत के कारण राजकुल में जो उत्पात हुआ उसकी ग्लानि से भरत का जीवन शून्य सा होगया था। वे कर्तव्यवश शरीर से जीवित अवश्य थे किन्तु उनका हृदय टूट चुका था। उन्हें माता पत्नी भाई परिवार किसी की सुध न थी। उन्हें चिन्ता थी तो यही कि उनके ऊपर जो लांछन है यदि सौ जन्म लेकर भी उसका प्रायश्चित करना पड़े तो कम है। वे नन्दिग्राम में राम लक्ष्मण से भी अधिक कठोर व्रत धारकर रह रहे थे। ऐसी स्थिति में मांडवी की दशा की कल्पना कीजिये। उसकी दशा उस व्यक्ति के समान है जिसे मारा जाय और रोने न दिया जाय। पति की भांति उसने सब सुखों को तिलांजलि दे दी। हाथों में चार चूड़ी और माथे पर सिन्दूर की रेखा लगाकर वह मन ही मन अपने सुहाग की कामना करती है। उसे कहीं से सहानुभूति प्राप्त नहीं। महलमें रहती हुई भी वह वनवासिनी है। कौसल्या सुमित्रा और उर्मिला की दृष्टि जब मांडवी पर पड़ती होगी तो वह निश्चय ही उनकी आंखों से झांकती उपेक्षा से तिलमिला उठती होगी। पुत्र जब साथ नहीं देता तो माता के लिये पुत्रवधू भी विष सी बन जाती है। मांडवी के लिये कैकेयी के हृदय में

कोई सहानुभूति होगी ऐसी आशा नहीं होती। भरत उससे कुछ ही दूर नन्दिग्राम में रह रहे हैं किन्तु मांडवी से वे इतनी ही दूर थे जितने लक्ष्मण उर्मिला से। प्रिय के आँख से ओझल हो जाने पर वियोग की पीड़ा किसी न किसी प्रकार सहन हो जाती है किन्तु आँख के सामने रहते मन को समझाना बड़ा कठिन होता है। मांडवी ने १४ वर्ष तक इस कठिन स्थिति का सामना किया। वह नित्यप्रति भोजन लेकर नन्दिग्राम जाती है किन्तु दो घड़ी बैठकर पति से बात नहीं कर पाती। एक परिचारिका के समान जाती और लौट आती है। भोजन का थाल रखकर लौटते समय मांडवी की आँखों से सावन भादों की सी झड़ी लग जाती होगी। विधाता ने उसे भी क्या भाग्य दिया है। सब की सेवा में रत रहना और अन्दर ही अन्दर आँसू पीना उसके भाग्य में लिखा है। घर में सास और बहन की सेवा का भार उसी पर है। वह बड़ी कठिनाई से अनुनय-विनय करके सबको भोजन खिलाती है। यदि किसी दिन उर्मिला पति-वियोग में ज्यादा दुखी होकर खाना छोड़ देती है तो मांडवी को भी उसके साथ भूखा रहना पड़ता है। उर्मिला के आँसू देखकर मांडवी का मन होता है कि पृथ्वी फट जाय और वह उसमें समा जाय। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो कि सबके दुख का कारण वही है। अतः उसे एक घड़ी एक पल चैन नहीं मिलता। सबको प्रसन्न करने की चेष्टा में उसकी निजी खुशी समाप्त होगई। ऐसी साध्वी वधू के विषय में साहित्यकारों का मौन बड़ा आश्चर्यजनक है। कवि का हृदय तो बहुत संवेदनात्मक होता है पर मांडवी के विषय में वाल्मीकि और तुलसी की संवेदना क्यों जागृत नहीं हुई आश्चर्य है। व्यथा का भार आधा हो जाता है यदि सहानुभूति से कोई दो शब्द कह देता है किन्तु यदि कोई पूछने वाला न हो तो व्यथा का भार मनुष्य को पीस डालता है। मांडवी सहानुभूति के अभाव में चिर संतप्ता दिखाई देती है।

पति सुख के अलावा माता-पिता की ओर से भी मांडवी को सहानुभूति नहीं मिली। सीता और उर्मिला की व्यथा जनक और जननी को ज्यादा

व्यथित करती है क्योंकि उन दासों के पति वनवासी हैं। सीता राम के साथ अवश्य हैं किन्तु उसके शरीर पर वल्कल देखकर और जंगल-जंगल भटकते देखकर माता की आँखें करुणा से भर आईं। जिस सीता ने दीपक की बाती भी कभी ऊँची न की हो वह जंगल के कष्ट सहन करती है—यह देखकर कौन सहृदय है जो रो न पड़ेगा ? पति वियोग में नित्यप्रति मुर्झाई हुई उर्मिला की पीड़ा से जनक-जननी निश्चय ही व्यथित थे। किन्तु मांडवी के प्रति सबकी सहानुभूति कैसे हो ? उसके पति को राज्य मिला है वह राजरानी बनने जा रही है उसके प्रति सहानुभूति कैसी ? सुख में सहानुभूति किसे मिलती है ? पर मांडवी को कैसा सुख मिला उसे कौन नहीं जानता ? उसके हृदय में मचते हुए हाहाकार को सुनने और देखने का अवकाश किसको था ? वह पति कुल और पिता कुल दोनों ओर से उपेक्षित रही। कवियों ने भी सहानुभूति के दो शब्द उसके प्रति प्रकट नहीं किये। उर्मिला के लिये सीता ने सहानुभूति से इतना तो कहा था —

आज भाग्य जो है मेरा वह भी हुआ न हा तेरा !

राम ने —

लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही हुए वस्तुत तुम दो ही ॥

यह कहकर उर्मिला के त्याग की प्रशंसा की है। किन्तु मांडवी की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई। भरत की प्रशंसा में रामायण के पृष्ठ भरे हुए हैं पर उनकी धर्मपत्नी ने उनकी कठोर तप साधना में कितना योग दिया इसे किसी ने नहीं देखा। यदि कैकेयी की तरह मांडवी भी भरत से हठ करती कि 'तुम्हें राज्य करना ही पड़ेगा पिता का वचन टालोगे तो नरक मिलेगा मेरा कहना नहीं मानोगे तो मैं प्राण दे दूँगी तब भरत क्या करते ? सारी तपस्या धरी रह जाती। तुलसी की रामायण का रूप कुछ और ही होता। सीता ने वन जाने का हठ किया तो राम को मानना ही पड़ा। यदि मांडवी भी ऐसा ही हठ करती

तो शायद भरत को राज्य स्वीकार करना पड़ता और ऐसी स्थिति में पुरुषों के सब आदर्श रखे रह जाते। पत्नियों के त्याग और तपस्या से पुरुषों ने समाज में जो स्थान प्राप्त किया है यदि उसका मूल्यांकन किया जाय तो समस्त नारी वर्ग श्रद्धा और सम्मान के सर्वोच्च आसन पर आसीन होने योग्य है।

रामायण की कथा में सचमुच मांडवी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। राम के वनवास और दशरथ की मृत्यु के बाद अयोध्या के राज-कुल की व्यवस्था का सारा भार उसी ने संभाला है। सब ओर से उपेक्षा और घृणा सहन करके भी उसने सबको प्रसन्न रखने का भरपूर प्रयास किया। राजकुल की यह उपेक्षित वधू हम सब की सहानुभूति की पात्र है। कवियों की सहानुभूति प्राप्तकर जिस प्रकार कैकेयी उर्मिला यशोधरा विष्णुप्रिया आदि देवियों की व्यथा सबकी सहानुभूति का विषय बन गई है, उसी प्रकार मांडवी की व्यथा भी किसी सहृदय कवि की वाणी द्वारा मुखर होकर सहानुभूति प्राप्त करेगी।

---

# भारतेन्दु की 'जातीय सगीत' योजना

भारतेन्दु युग उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओं के अभाव में भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में गौरवपूर्ण पद पर आसीन है इसका अधिकांश श्रेय तद्युगीन साहित्यकारों के उस दृष्टिकोण को है जिसके द्वारा वे साहित्य और समाज के परस्पर संबंध को अविच्छिन्न बनाना चाहते थे। भारतेन्दु युगीन काव्य ही सर्वप्रथम व्यक्ति और वैभव की संकुचित परिधि स निकलकर जनता और समाज की विस्तृत भूमि मे जनहितार्थ प्रयुक्त हुआ।

यद्यपि भारतेन्दु युग का अधिकांश काव्य (नाटकों को छोड़कर) पुरानी परिपाटी पर लिखित शृ गारिक है किन्तु वे रचनाएं, जिनमें कवियों ने तत्कालीन जीवन की विविध समस्याओं का अंकन किया है साहित्य के इतिहास के लिये नवीन है और देश तथा समाज के लिए अत्यन्त हितकर सिद्ध हुई है।

कविता तथा नाटकों द्वारा देश की तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक तथा धार्मिक दशा का निरूपण तथा भविष्य के लिये उन्नति का मार्ग प्रदर्शन करके इस युग के कवियों ने देश की वर्तमान जागृति और स्वतन्त्रता प्राप्ति में बड़ा महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

देशहित क लिये रचित काव्य मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की 'जातीय संगीत' योजना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सामाजिक उद्बोधन में इस युग के नाटकों ने भी वह कार्य नही किया जो साधारण बोलचाल की भाषा म लिखित सुधारवादी गीतो ने किया है।

भारतेन्दु के समय में सर्वसाधारण जनता में कजली ठुमरी आल्हा लावनी आदि शृ गारिक अश्लील गीतों का इतना अधिक प्रचार : कि उनके समक्ष न सत्काव्य को कोई पूछता था और न कोई सात्विक

उपदेश भाषणों आदि की ओर ध्यान देता था। तत्कालीन जनता की रुचि का कुछ अनुमान कवि 'उरेस' के निम्न पद से किया जा सकता है –

पंडित कवित्तन की बात है न कुरान की
कत्थक-कलावंत, फिरत दाम माने को।
कहत 'उरेस' भरें उदर कपूत सबै
सीखे टेम-बाहिन को बना था बजाने को।
आदर करत बाहियात के बकैयन को
तजि के पुरान वेद धरम के बाने को।
जुरि के गंवार बैठ चौखटे किलकि देत
आल्हा के गवैया को रुपैया रीझ जाने को।

स्वयं भारतेन्दु ने कजरी की तत्कालीन लोकप्रियता के विषय में लिखा है –

देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी
मिटि धूर में सपेदी सब धाई कजरी।
दुख देह की जागन छोड़ भाई कजरी
गुन-गन भाव धाड़ भाई कजरी।

ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु ने जनहृदय से इन पुराने गीतों का मोह दूर करने तथा जनता में सत्साहित्य के प्रति रुचि और सात्विक उन्नत भावनाओं का प्रसार करने के लिये पुराने गीतों की शैली पर नवीन सुधारकारी गीतों की रचना का बीड़ा उठाया। उन्होंने सर्वप्रथम विद्वानों तथा साहित्यकारों के सम्मुख अपनी योजना का इस रूप में प्रस्तुत किया –

"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और भी उपाय होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं किन्तु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने सोचा है कि जातीय संगीत

तब तें पनघट जाऊं सखीरी वा जमुना के तीर ।
भरि भरि जमुना उमड़ चलत है इन नयनन के तीर ।।

हृदय की अनेक प्रकार की अनुभूतियों से युक्त सूर की गोपियों का विरह वर्णन आप में अनूठा है। उद्धव के समक्ष गोपियों ने व्यंग्य और हास्यमयी जैसी उक्तियाँ कही हैं उनमें कोरी वाग्विदग्धता नहीं अपितु हृदय की वह मर्मान्तिक पीड़ा छिपी है जिसके कारण दिन-रात एक पल उन्हें चैन नहीं मिलता। हृदय का दर्द हलका हो जाता है यदि कोई उसे सुनले। गोपियों ने उद्धव को खरी खोटी सुनाकर अपने हृदय का दर्द हलका किया है।

प्रेम दिवानी मीरा का विरह सबसे अद्भुत है। वह उनके व्याकुल हृदय की निजी अभिव्यक्ति है। उनके हृदय का दर्द उनके सिवाय कोई नहीं जानता। वह विरविरहिणी हैं। जब से होश संभाला कृष्ण के विरह में पावक बनकर लोकलाज कुल मर्यादा सबको तिलांजली दे दी। सब प्रकार के कष्ट सहे बदनामी सही किन्तु सांवरिया कृष्ण से नाता नहीं तोड़ा। आजीवन उनके विरह में तड़पती रहीं। मीरां के प्रेम गीत भक्तों और प्रेमियों के कण्ठहार बन गये हैं। इन गीतों मे नारी हृदय की मार्मिक व्यथा मूर्तिमती दिखाई देती है।

भक्तिकाल के बाद रीतियुग में नायिकाओं के विरह का व्यापक वर्णन हुआ किन्तु उसका रूप परिवर्तित हो गया। उर्दू के प्रभाव से नारी की भावुकता कोमलता कवियों का खिलवाड़ बन गई। अनूठी उक्तियों और ऊहा द्वारा नायिका के विरह का तापमान मात्र देना उनका कर्त्तव्य होगया। इन नायिकाओं का विरह ताप इतना अधिक है कि माह पूस की ठंडी रातों म भीगे कपड़े पहन कर भी सखियाँ उनके पास जाने का साहस नहीं कर पाती। बोतलों का गुलाबजल विरह संतप्त नायिका की श्वास से भाप बनकर उड़ जाता है—

औंधाई सीसी सुलखि विरह बरत बिललात।
बिच हीं सूख गुलाब ग्यौ छींट्यौ छुयो न गात।

* पद्माकर की नायिका इतनी अचकमचक है कि गर्म स्वास के झोकों से झोंके के समान घुस जाती है। रीतियुग में सर्वत्र इसी प्रकार की नई नई कल्पनाओं द्वारा विरह का वर्णन हुआ है उनमें कहीं हृदय की गंभीरता संवेदना और मार्मिकता के दर्शन नहीं होते। रीतियुगीन नायिकाओं की विरह वेदना मर्मज्ञ पाठकों का हृदय-स्पर्श करने में असमर्थ है।

आधुनिक युग में समय और विचार परिवर्तन के साथ विरह के रूप में पुन: परिवर्तन हुआ। आधुनिक काव्य में वर्णित नारी का विरह बौद्धिक दृष्टि और स्वाभिमान की भावना लिये हुए है। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' की विरहिणी राधा कृष्ण के वियोग में रोती है संतप्त होती है किन्तु केवल रोने में ही जीवन व्यतीत नहीं कर देती वह कृष्ण के प्रेम में चिर कुमारी रहकर जगत्-हित का व्रत धारण करके कहती है ~

प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें।
मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।

राष्ट्रीय जागृति के इस युग में कवियों ने विरहिणी नायिकाओं को देश-हित के कार्यों तथा परोपकार में संलग्न दिखाया है। विरहिणी राधा निजी व्यथा भूलकर दीन दुखियों की सेवा में संलग्न दिखाई देती है। दूसरों की सेवा में उसे कृष्ण मिलन का आनन्द प्राप्त होता है।

'साकेत' की उर्मिला तथा 'यशोधरा' की यशोधरा का विरह वर्णन परम्परा से भिन्न है। इन दोनों काव्यों में मैथिलीशरण गुप्त ने आधुनिक युग के अनुकूल नारी के भावों को अभिव्यक्त किया है। यशोधरा बुद्ध की पत्नी है। बुद्ध की त्याग तपस्या का गौरव काव्यों में तथा इतिहास में बहुत ऊँचे स्वर से व्यक्त हुआ किन्तु विरहिणी यशोधरा के कुचले हुए अरमानों और बहते हुए आँसुओं का मूल्यांकन किसी ने नहीं किया। गुप्तजी ने नारी हृदय की इस मूक वेदना का ममता

और काव्य द्वारा उसे अभिव्यक्ति दी। बुद्ध यशोधरा को सोती छोड़कर चले गये। जागने पर यशोधरा का संसार लुट गया वह अकेली रह गई, एक दो महीने या वर्षों के लिये नहीं सदा सदा के लिये। क्या यह छोटी बात थी? यशोधरा के हृदय पर इसका जितना आघात हुआ उससे अधिक उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँची। नारी को जीवन की बाधा समझकर चुपके से बुद्ध का चला जाना यशोधरा जैसी पति प्राणा स्त्री के लिये बड़े अपमान की बात थी। वह इस आघात से तिलमिला कर सखि से कहती है –

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गये यही बड़ा व्याघात।

सखि वे मुझ से कह कर जाते।
तो कह क्या मुझको अपनी वे पग बाधा ही पाते।

भारतीय नारी पति की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मानती है। क्षत्राणियाँ पतियों को खुशी-खुशी युद्ध के लिये सजा कर रण में भेज देती थी *फिर नारी से इतना दुराव क्यों? यशोधरा इसे नहीं सहन कर* पाती। वह वियोगिनी बन होगई हो किन्तु हृदय के स्वाभिमान ने उसके व्यक्तित्व को मिटने नहीं दिया। वह कहती है –

सिद्धि मार्ग की बाधा नारी तो उसकी क्या गति है।
मै भी नहीं अनाथ जगत् में मेरा भी प्रभु पति है।

बुद्ध जब सिद्धि प्राप्त करके लौटे तो मानिनी यशोधरा उनके स्वागत के लिए नहीं आई। हृदय में मिलन की आकांक्षा ज्वारभाटे की भांति उमड़ रही है किन्तु जब बुद्ध ने उसे विदा करने का गौरव नहीं दिया तो वह उनका स्वागत कैसे करे। वह मन को समझाती है –

रे मन आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूं मै तुमसे बात न बिगड़े मेरी।

हारकर बूढ़ उनके दरवाजे पर आते हैं और कहते हैं –

मानिनि ! मान तजो लो रही तुम्हारी बान ।
दानिनि ! आया स्वयं द्वार पर यह तव तत्र-भवान ।

विरह विदग्धा नारी का यह स्वरूप अपने प्रकार का अनूठा है। आधुनिक युग की नारी भावना प्राचीन युग से नितान्त भिन्न है विरह में भी उसके गौरव की पूरी प्रतिष्ठा की गई है।

'कामायनी' में मनु श्रद्धा को केवल इसलिये छोड़कर चले जाते हैं कि वह नव शिशु की चिन्ता में लीन है उसे पति की चिन्ता नहीं है भोग विलास में वह मनु का साथ नहीं देती। पुरुषत्व के अभिमान में मनु नारी की सत्ता भूल जाते हैं –

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल।
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

श्रद्धा मनु के विरह में बहुत व्यथित थी किन्तु मनु के जीवन में श्रद्धा का अभाव उससे ज्यादा कष्टकर है। वे दर-दर की ठोकरें खाते हुए अन्त में श्रद्धा की शरण में आकर ही शान्ति प्राप्त करते हैं। वियोगिनी श्रद्धा का तन-मन आनन्द से भरपूर हो जाता है। यहाँ भी विरह-वर्णन में कवि ने नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है। विगत युगों की विरहिणी नायिकाओं की भाँति नायक के वियोग में उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। आज का साहित्यकार नारी के विरह वर्णन में कोरी भावुकता का आश्रय न लेकर उभय पक्षों पर विचार करता है और युक्तियुक्त ढंगों में उसका विवेचन करता है। अब विरह की बहुचर्चित दस दशाओं के वर्णन की अपेक्षा कवि नये ढंग में नायिका की विरह-वेदना प्रस्तुत करते हैं। इसमें भावुकता और बौद्धिकता दोनों का समान स्थान है।

---

# छायावादी कविता पर रवींद्र का प्रभाव

रवीन्द्र नाथ टैगोर की बहुमुखी प्रतिभा ने भारतीय कला और साहित्य में एक नवीन युग की सृष्टि की है। साहित्य संगीत चित्रकला धर्म दर्शन सभी क्षेत्रों में उनकी प्रभाव शक्ति थी। हिन्दी साहित्य के छायावादी युग पर उनकी कला और विचारों का प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। छायावादी काव्य की भाषा शैली विषय भाव कला सभी पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की स्पष्ट छाप है। यों तो २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही बंगला साहित्य और साहित्यकारों ने हिन्दी को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु सन् १९११ में टैगोर की 'गीतांजलि' पर 'नोबल पुरस्कार' ने नवीन कवियों का ध्यान विशेष रूप से इस ओर आकर्षित किया। बहुतों ने तो 'गीतांजलि' को अपना आदर्श मानकर उसी ढंग की रचनायें हिन्दी में की।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता तथा नैतिकता से ऊबकर छायावादी कवियों ने काव्य में जिस प्रकार की गीतात्मक और अभिव्यंजनात्मक शैली को अपनाया उसकी पृष्ठभूमि में रवीन्द्र का महत्वपूर्ण योग है। छायावादी काव्य में नारी सौन्दर्य प्रेम आदि की व्यंजना का प्राधान्य उसी का परिणाम है।

नारी के विषय में रवीन्द्र के विचार बड़े आदर्श तथा कोमल थे। वे नारी को ईश्वर की विभूति तथा सृष्टि की रमणीयतम वस्तु मानते थे। उनके विचार में नारी सौन्दर्य प्रेम करुणा ममता की साक्षात मूर्ति है। उन्होंने 'उर्वशी' प्रेमेर अभिषेक' 'कुमारी' 'चित्रा' 'मानसी' आदि कविताओं में अपने उन्हीं भावों को प्रकट किया है। छायावादी प्रमुख कवि प्रसाद पन्त निराला आदि की नारी विषयक कविताओं में इसके

उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। रवीन्द्र की उर्वशी के कुछ भाव 'पन्त' की 'भावी पत्नी' की इन पंक्तियों में संचित हैं —

संकुचित ज्योत्स्ना सी चुपचाप
जड़ित पद नमित पलक दृग्पात
पास जब आ न सकोगी प्राण!

जयशंकर प्रसाद की 'देव बाला' शीर्षक कविता में नारी की पवित्रता और मधुरिमा का चित्रण लगभग उसी प्रकार का है —

सुरसरी सी यह विमल धारा है
स्नेह-गगन की यह नवल तारा है।
सीप-निधि का यह सुघर मोती है।
मधुरिमा इतनी कहाँ होती है।

प्रेम और सौन्दर्य की उपासना तथा रहस्यवादी भावना छायावाद की प्रमुख विशेषता है और यह विशेषता रवीन्द्र की कलाप्रियता और विचार से प्रभावित है। अनन्त के प्रति जिज्ञासा पिपासा और मिलन का जैसा भाव रवीन्द्र की निम्न पंक्तियों में है —

न जाने कितनी सुबह शाम मैंने तुम्हारी पदध्वनि सुनी है और तुम्हारे संदेशवाहक ने मेरे हृदय में आकर मुझे निहित रूप से पुकारा ...... केवल मैं ही प्रतीक्षा में रोता और व्यथा की आकांक्षा में तिल-तिल करके अपना हृदय जलाता रहूँगा ........ क्या तुमने उसकी मौन पदध्वनि नहीं सुनी वह आता है आता ही रहता है। प्रतिक्षण प्रतियुग प्रतिदिन और प्रतिरात ..............।"

यही भाव महादेवी की रचनाओं में लक्षित होते हैं। वे प्रिय के वियोग में अखंड वियोगिनी और अखंड सुहागिनी हैं। उनकी 'मुस्काता संकेत भरा नभ क्या प्रिय आने वाले हैं' तथा 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। 'पंत' की 'मौन निमंत्रण' आदि कविताओं में रहस्यवादी भाव प्रवाहित हैं।

दुःख और करुणा इस युग के कवियों का प्रधान विषय है। रवीन्द्र के हृदय में जिस प्रकार एक वियोगिनी नारी विद्यमान रहती थी वे कवि भी 'विरही होगा पहला कवि' का भाव लेकर चले हैं।

इसके अतिरिक्त छायावादी कविता की भाषा शैली पर भी रवीन्द्र का प्रभाव है। गीत गीतनाट्य भावनाट्य आदि रचनायें कुछ सीमा तक उसी का परिणाम है। इस युग के काव्य में गेयता बढ़ गई है। भाषा में बंगला शब्दों का प्रचलन भी अधिक है। छायावादी कवि भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के समन्वय का प्रायः वही सिद्धान्त लेकर चले हैं जो रवीन्द्र का आदर्श था। पंत की 'ज्योत्स्ना' तथा प्रसाद की 'कामना' इसका उत्तम उदाहरण है। इस भांति छायावादी युग कवीन्द्र रवीन्द्र का बहुत ऋणी है। उन्होंने साहित्य में नवीनता का श्रीगणेश करके अन्य भारतीय भाषाओं को नव निर्माण का संदेश दिया। भारतीय कलाओं और साहित्य पर रवीन्द्रनाथ टैगोर के युगान्तरकारी व्यक्तित्व की अमिट छाप है।

# राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति हमारा व्यवहार

सन् १९५० में भारतीय संविधान में हिन्दी को स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का निर्णय होगया था। उसी समय यह निश्चय होगया था कि संविधान का यह निर्णय १५ वर्ष बाद अर्थात् २६ जनवरी सन् १९६५ से कार्यरूप में परिणत किया जायेगा। इस निश्चय के पीछे उस समय कुछ लोगों के तर्क थे कि अभी हिन्दी में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह एकदम अंग्रेजी को अपदस्थ कर राष्ट्रभाषा का गुरुतर भार अपने ऊपर ले सके। उसमें पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। विज्ञान सम्बन्धी विषयों का अध्यापन हिन्दी द्वारा नहीं हो सकता। हिन्दी का साहित्य भी बहुत ऊँचा और विस्तृत नहीं है। दक्षिण भारतीय लोगों को उसे समझने और प्रयोग करने में कठिनाई होती है, आदि आदि। १५ वर्ष की इस अवधि में हिन्दी की उपर्युक्त कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा और तब हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत हो सकेगी।

उस समय दी गई १५ वर्ष की यह लम्बी अवधि किसी भी प्रकार हिन्दी के हित में सिद्ध नहीं हुई। इसीके कारण राष्ट्रभाषा के प्रसार में कई प्रकार की अड़चनें उपस्थित हुई। किसी भाषा का प्रसार या निखार उसके निरन्तर प्रयोग द्वारा होता है। यदि उसके स्थान पर या उसके साथ-साथ दूसरी किसी भाषा का प्रयोग चलता रहे तो उसमें कभी यह क्षमता नहीं आती कि वह स्वतंत्र रूप से प्रशासनिक कार्यों के लिये अथवा अखिल राष्ट्र के पारस्परिक व्यवहार के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके। कठिनाई सहकर ही जिस प्रकार मनुष्य में कार्यक्षमता आती है उसी प्रकार निरन्तर व्यवहार से ही भाषा कामकाज की बन पाती है। उसके लिये वर्षों या महीनों की अवधि की आवश्यकता नहीं होती। अच्छी टूटी-फूटी भाषा

बोलते-बोलते स्वतः वाक्य रचना करने लगता है। उसे व्याकरणादि की अपेक्षा नहीं होती। किसी भाषा के प्रसार में उसका निरन्तर प्रयोग कितना महत्वपूर्ण होता है इसका उदाहरण इंगलैंड में अंग्रेजी का प्रचार है।

१४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इंगलैंड में सम्पूर्ण प्रशासनिक कार्य फ्रेंच और लेटिन भाषा में होता था। शासकों की भाषा फ्रेंच थी। जन भाषा होने पर भी अंग्रेजी को इंगलैंड में लगभग वही स्थान प्राप्त था जो भारत में भारतीय भाषाओं को है। वहाँ लोग अपनी मातृभाषा छोड़ कर फ्रेंच पढ़ना गौरव समझते थे। सभ्य लोगों की भाषा फ्रेंच मानी जाती थी अतः ऊँचे परिवारों के बच्चे फ्रेंच स्कूलों में पढ़ते थे और अंग्रेजी बोलना अपना अपमान समझते थे। इस मानसिक दासता से छुटकारा पाने के लिये सन् १३६२ ई० में पार्लियामेंट ने एक अधिनियम बनाकर अंग्रेजी का प्रयोग चालू किया। किन्तु अनिवार्य न होने के कारण लोगों ने अंग्रेजी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। सत्ताधारियों तथा कुलीन घरानों ने अंग्रेजी के विरुद्ध नाना प्रकार के तर्क देकर फ्रेंच की सत्ता बनाये रखने की भी तोड़ कोशिश की। तब सन् १७३१ ई० में दूसरा अधिनियम बना जिसमें अंग्रेजी का प्रयोग न केवल अनिवार्य कर दिया गया अपितु अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के प्रयोग पर बन्द विधान किया गया। इस के बाद अंग्रेजी अपनी पूर्व स्थिति में चाहे जैसी भी अविकसित भाषा थी अनिवार्य प्रयोग से उसमें सब प्रकार के प्रशासनिक कार्य का सुचारु रूप से चलाने की क्षमता आगई। आगे जाकर वह न केवल इंगलैंड की अपितु देश विदेशों की राजभाषा बनने का भी गौरव प्राप्त कर सकी। कहने का तात्पर्य यह है कि दो भाषाओं का विकल्प मुख्य भाषा की स्थिति को निर्बल बनाता है तथा उसके प्रचार और प्रसार में रुकावट उत्पन्न करता है। हिन्दी १५ वर्ष के पश्चात् भी राजभाषा होने के लिये उपयुक्त सिद्ध नहीं हो रही है इसका एकमात्र कारण अंग्रेजी को उसकी सह-भाषा बनाना है। यदि प्रारम्भ से हिंदी का प्रयोग

लागू कर दिया जाता तो भाषा की जो समस्या आज उत्पन्न हुई है, कभी नहीं होती। इस दृष्टि से १५ वर्षों की अवधि हिन्दी के प्रचार में रुकावट सिद्ध हुई। इन १५ वर्षों में अंग्रेजी प्रधान भाषा बनी रही और हिन्दी उसकी सहभाषा के रूप में या कहिये नहीं के बराबर प्रयुक्त हुई। प्रांतों में विविध प्रांतीय भाषाओं का प्रचलन हो सकता है किन्तु जो भाषा सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हो या जो देश की एकता की प्रतीक हो वह एक ही होनी चाहिये। देश का सारा काम उसी में होना आवश्यक है।

दूसरी हानि जो इस अवधि के कारण हुई वह यह कि इस लम्बे काल में देश में राष्ट्रभाषा की अनिवार्यता का महत्व क्रमशः कम होता गया। १५ वर्षों में देश का वातावरण बदल गया। एक बने हुये वातावरण में जो कार्य आसानी से सम्पन्न हो जाता है समय बीतने पर उसमें नाना विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। 'शुभस्य शीघ्रम्' का सिद्धांत इसीलिये प्रसिद्ध है। शुभ कार्य में देरी ठीक नहीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक देश का वातावरण बड़ा मधुर हुआ था। देशवासियों में एक अनोखा उत्साह और देश के लिये कुछ करने की साध थी। सर्वत्र राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। उस समय यदि हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता तो किसी को इसमें आपत्ति न होती। लोग देश के प्रति अपना कर्तव्य मानकर उसे स्वीकार करते। किन्तु १५ वर्षों में देश की स्थिति बहुत कुछ बदल गई। आज सर्वत्र आपाधापी स्वार्थपरता और प्रांतीयता का विषैला वातावरण व्याप्त है। त्याग तक पहुँचकर भावना का महत्व क्षीण हो गया है। स्वार्थ के ऊँचे नशे में पड़कर लोगों को राष्ट्रीय महत्व के प्रश्न बहुत तुच्छ और बौने दिखाई देने लगे हैं। संविधान के प्रति भी जनता की आस्था वह नहीं है जो आज से १५ वर्ष पूर्व थी। ऐसी स्थिति में राष्ट्रभाषा का वह १५ वर्ष पुराना संकल्प साकार होने की अपेक्षा निरन्तर कल्पना का ऐसा खिलौना बनता जा रहा है जिसमें लोग मनचाहा खिलवाड़ कर रहे हैं। कुछ लोग आज भी

कहते हैं कि हिन्दी किसी पर थोपनी नहीं चाहिये। धीरे-धीरे उसका प्रयोग कीजिये। कुछ कहते हैं जब तक अहिन्दी भाषी स्वयं स्वीकार न करें, हिन्दी उनके लिये अनिवार्य नहीं होनी चाहिये। द्रविड़ मुनेत्र कषगम के नेता भी अन्नादुराई चाहते हैं कि जब तक संविधान में स्वीकृत १४ भाषायें राजभाषा न बन जायें तब तक अंग्रेजी ही राजभाषा के रूप में जारी रहनी चाहिये।

ऐसे भिन्न-भिन्न विचार वाले लोगों के मतों को स्वीकार कर यदि राष्ट्रभाषा के प्रश्न को सुलझाया जाय तो संभवतः शताब्दियों तक यह समस्या हल नहीं हो सकती। जो लोग हिन्दी से घृणा करते हैं वे १५ वर्ष म क्या जन्म जन्मान्तर भी हिन्दी नहीं सीख सकते। अथवा जो १५ वर्ष में हिन्दी का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके वे आगे प्राप्त कर सकेंगे इसकी भी क्या गारन्टी है? सत्य बात यह है कि हिन्दी भाषा की कठिनाई या असमर्थता उसे स्वीकार करने में रुकावट नहीं है अपितु वास्तविक रुकावट है—राजनैतिक सांस्कृतिक प्रांतीय और उच्च पदों की समस्यायें। बंगला और मलयालम भाषाओं में संस्कृत के इतने शब्द हैं कि इन प्रान्तों को हिन्दी सीखने में अधिक कठिनाई नहीं होगी परन्तु कोई सीखना चाहे तब न! बहुत से लोगों का कहना है कि भाषा का यह आन्दोलन जो २६ जनवरी के बाद हुआ आर्य और द्रविड़ जातियों का १००० वर्ष पुराना झगड़ा है। यदि हिन्दी से ही उनका विरोध होता तो वे राष्ट्रीय ध्वज का अपमान क्यों करते? अंग्रेजी के पुस्तकालय क्यों जलाते? और विध्वंसात्मक तत्वों को क्यों अपनाते? जो भी हो १५ वर्ष की अवधि ही राष्ट्रभाषा आन्दोलन की उत्तरदायी है।

यह सब कुछ होते हुए भी यदि सरकार को बाध्य होकर १५ वर्ष की अवधि राष्ट्रभाषा के प्रयोग के लिये देनी पड़ी थी तो उसका कर्त्तव्य था कि उस दिशा में बहुत सक्रिय और ठोस कार्य करती। हिन्दी के प्रसार के लिये चहुँमुखी प्रयत्न करना शासकों व जनता दोनों का परम कर्त्तव्य था। किन्तु खेद है कि इस अवधि में हिन्दी के प्रचार और विकास के

लिये किसी प्रकार का समुचित प्रयत्न नहीं हुआ। विदेशी भाषा की दासता से मुक्ति दिलाने में सरकार की पूर्ण उपेक्षा रही। स्वतन्त्रता के १५ वर्ष बाद जनता ने यह भी अनुभव नहीं किया कि देश में आजादी आई है और विदेशियों से उन्हें मुक्ति मिली है। भाषा वेषभूषा खानपान रहन-सहन, आचार-व्यवहार और पठन-पाठन में अंग्रेजी राज्य के बाद और अधिक अंग्रेजियत भारत में फैली है। अंग्रेजी राज्य में बच्चों के लिये इतने अंग्रेजी स्कूल नहीं थे जितने स्वतन्त्र भारत में खुले। लोग कष्ट उठाकर पेट काटकर भी अधिक फीस वाले अंग्रेजी स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये विवश हो गये हैं क्योंकि वे जानते हैं कि भारत में बच्चों का अच्छा भविष्य अंग्रेजी पर निर्भर है। बड़ी नौकरी ऊँचा पद अंग्रेजी जानने वालों को मिलता है तब भारतीय भाषायें और विशेष कर हिन्दी पढ़ाकर उनका भविष्य क्यों बिगाड़ा जाय? स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी की जितनी उपेक्षा हुई है पहले कभी नहीं हुई थी। स्वतंत्रता से पूर्व लोग विदेशी शासकों की भाषा से घृणा करते थे और अपने बच्चों को हिन्दी संस्कृत पढ़ाना गौरव की बात समझते थे किन्तु स्वतन्त्र भारत में हिन्दी में पढ़ना पढ़ाना बोलना और लिखना हीनता का पर्यायवाची बन गया है। हिन्दी हीन मनोवृत्ति की सूचक मानी जाने लगी है। जब जो लोग अच्छी हिन्दी जानते हैं और जिन्हें उसके साहित्य का अच्छा ज्ञान है वे भी हिन्दी में ऐसे कतराते हैं मानों हिन्दी बोलना असभ्यता का लक्षण या मूर्खता की निशानी है। बहुत से लोगों की तो यह धारणा है कि विद्वत्ता की एकमात्र कसौटी अंग्रेजी है। जितनी प्रतिभा जितना ज्ञान विश्व में है वह सब अंग्रेजी की बपौती है, जो इससे दूर है वह असभ्य है मूर्ख है और समय की गति से दूर है। ऐसे लोग हिन्दी के नाम पर मुँह बनाते हैं और उसके साहित्य की हँसी उड़ाते हैं। आश्चर्य तो यह कि जिन्हें हिन्दी का तनिक भी ज्ञान नहीं वे भी हिंदी साहित्य और हिन्दी की महत्ता की इस अधिकार से बुराई करते हैं मानों वे ही सरस्वती के वरद पुत्र हैं।

संसार में भारत के अतिरिक्त शायद कोई ऐसा स्वतंत्र देश नहीं मिलेगा जहाँ की राष्ट्रभाषा कोई विदेशी भाषा हो और भारत के अतिरिक्त ऐसा भी कोई देश नहीं होगा जिसे विदेशी भाषा से इतना प्यार और देशीय भाषाओं से इतनी घृणा हो। संसार में सभ्यता और संस्कृति का आलोक फैलाने वाला देश भाषा के लिये परमुखापेक्षी हो यह कैसी विडम्बना है। जिस देश की संस्कृत भाषा को विश्व की अधिकांश भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त हो उसके निवासी किसी विदेशी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए हिंसात्मक आंदोलन करें, भयंकर उपद्रव मचायें राष्ट्रपताका और राष्ट्र के संविधान का अपमान करें, देश की एकता भंग करने का षड्यन्त्र रचें इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है ? यह एक स्वतंत्र देश के गौरव के अनुरूप कार्य नहीं है। राष्ट्र का सम्मान प्रत्येक देशवासी का सम्मान है। उसे किसी भी मूल्य पर गिराना भयंकर नैतिक अपराध है राष्ट्रद्रोह है। यदि भारतीय भाषाओं में से किसी ऐसी भाषा को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाता जो इस योग्य न होती तो जनता का किसी मात्रा में विरोध उचित भी था किन्तु हिन्दी राष्ट्र की ४५ प्रतिशत जनता की भाषा है। उत्तर से दक्षिण तक पूर्व से पश्चिम तक भारत का कोई ऐसा कोना नहीं जहाँ हिन्दी बोली और समझी न जाती हो। सन्त विनोबा भावे ने स्वीकार किया है कि हिन्दी के माध्यम से ही वे समस्त भारतवासियों को अपने विचारों से अवगत करा सके हैं हिन्दी के बिना उनकी पदयात्रा और उनका भूदान आन्दोलन असफल सिद्ध होता। यही एक ऐसी भाषा है जिसके जानने वालों की संख्या भारतवर्ष म सबसे अधिक है। हिन्दी किसी प्रान्त विशेष की भाषा नहीं है। उसकी प्रकृति जनतंत्रात्मक है। यह बहुत आसानी से सीखी और पढ़ी जा सकती है। इसके अतिरिक्त हिन्दी संस्कृत की औरस पुत्री है। भारत की अन्य सब भाषाओं में संस्कृत शब्द विद्यमान हैं अतः प्रत्येक भाषा भाषी के लिये इसे पढ़ना और सीखना सर्वाधिक सरल है।

दूसरी बात हिन्दी ने राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा की है। स्वतंत्रता संग्राम में देश के एक कोने से दूसरे कोने तक राष्ट्रीय भावनाओं को फैलाने वाली भाषा हिन्दी है। पंजाब बंगाल, गुजरात तथा दक्षिण के नेताओं ने इसे बराबर महत्व दिया। सबने इसका व्यवहार किया और यथासंभव इसके प्रचार का प्रयत्न किया। महात्मा गांधी ने गुजराती होते हुए भी देश की एकता और भारतीयता की रक्षा के लिये अपने आन्दोलन में हिन्दी को प्रमुख स्थान दिया। वे चाहते थे कि अंग्रेज भले ही देश में सदा बने रहें किन्तु अंग्रेजी भाषा शीघ्र से शीघ्र इस देश से विदा हो जानी चाहिए। अंग्रेजी में दासता की गन्ध है और पश्चिमी सभ्यता की संक्रामक बीमारी है। यह देशवासियों को देश के प्रति ईमानदार नहीं बनने देती।

अंग्रेजी ने देश का कितना अहित किया है इस पर यदि खुले हृदय से विचार करें तो पायेंगे कि अंग्रेजी के कारण देश का शिक्षा स्तर नित्य प्रति गिरता जा रहा है। विद्यार्थी को अंग्रेजी आती नहीं उसे जानने के प्रयास में उसके अन्य विषय कमजोर रह जाते हैं। शिक्षा स्तर गिरने की और छात्र छात्राओं की पढ़ने में रुचि न होने की शिकायत सब ओर से सुनाई देती है किन्तु रोग कहाँ है इसे जानकर भी उस ओर से आँखें बन्द कर ली जाती हैं। दो प्रतिशत अंग्रेजी जाननेवालों ने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति में देश की सभ्यता संस्कृति, पंचवर्षीय योजनाओं आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में देश की बहुत अधिक हानि की है। भारत की ९८ प्रतिशत जनता जिस भाषा को न समझती हो उसमें शासन कार्य चलाने वाली सरकार कहाँ तक सफल हुई है और देश ने कितनी प्रगति की है यह भारत की वर्तमान स्थिति को देखकर बहुत स्पष्ट मालूम हो जाता है। चीन के आक्रमण से भारत पर संकट के जो काले बादल मंडराये उससमय अंग्रेजी का महत्व न जाने कहाँ विलुप्त हो गया। उन दिनों सरकार की भाषा नीति एकदम परिवर्तित होगई थी। आकाशवाणी के कार्यक्रमों में उन दिनों हिन्दी की देश प्रेम की कविताओं मातृभूमि की

प्रशस्तियाँ भारतीय संस्कृति और वीरता संबंधी हिन्दी वार्ताओं की धूम मची रहती थी। उस समय हिन्दी भारतीय एकता का प्रतीक बन गई थी। राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का आह्वान हिन्दी में किया जाता था। हिन्दी वार्ताओं और हिन्दी कविताओं ने उस समय देश में कैसा वातावरण बनाया यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। देश पर बलिदान होने के लिये हिन्दी में नारे लगते हैं और जब ऊंचे पदों का प्रश्न आता है तब अंग्रेजी की अन्तर्राष्ट्रीयता की दुहाई देकर सामान्य जनता के अरमान कुचल दिये जाते हैं। भाषा के संबंध में सरकार की यह दोहरी नीति बड़ी भयावह है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जब तक अंग्रेजी भारत पर छाई रहेगी न भारत में वैज्ञानिक प्रगति होगी और न भारत की किसी भाषा का समुचित विकास होगा। हमारी पंचवर्षीय योजनायें क्यों सफल नहीं होतीं ? अंग्रेजी के कारण ! अंग्रेजी ने देशवासियों के हृदय से देशप्रेम की भावना जड़ मूल से विनष्ट करदी है। बड़े बड़े बाँधों में दरारें आती हैं क्यों ? इसलिये कि हमें देश से प्रेम नहीं पैसे से प्रेम है। हम अपनी मातृभूमि की उन्नति में तत्पर नहीं! हमें यहां की भूमि से प्यार नहीं! प्यार इसलिये नहीं कि हमें इसकी शिक्षा नहीं मिलती। हम इतिहास पढ़ें अंग्रेजों का हम साहित्य पढ़ें अंग्रेजों का नैतिकता और धर्म बुद्धि से कोसों दूर रखे जायें तब देश के लिये प्यार कहाँ से उत्पन्न हो ? भारत की वर्तमान पीढ़ी रामायण और महाभारत वेद और पुराण के नाम से अनभिज्ञ है, वह राम-रावण में अर्जुन-दुर्योधन में अन्तर नहीं जानती वह भारत की नदियाँ पहाड़ों के नाम नहीं जानती। तब देश के विकास में उसका हृदय और शरीर कैसे रत हो ? अन्तर्राष्ट्रीयता के चक्कर में हमारी राष्ट्रीयता नित्यप्रति बिखरती जारही है और हम इस ओर से असावधान हैं। एक राष्ट्रभाषा के पीछे राष्ट्र के बहुत से प्रश्न संलग्न हैं। यह हमारी सभ्यता और संस्कृति का प्रश्न है, देश के प्रति प्रेम और कर्तव्य की भावना का प्रश्न है शिक्षा स्तर का पंचवर्षीय योजनाओं का और सामाजिक स्थिति का प्रश्न है। जहाँ देशों में वैज्ञानिक प्रगति

सबसे ऊँचे स्तर पर हुई है और वही देश भाव के युग में सबसे आगे बढ़े हुए हैं जिनमें देशी भाषाओं को सर्वोपरि स्थान मिला है। वहां वासियों को अपनी भाषा से बहुत प्यार है। जापान चीन आदि देशों में सारा कार्य उनकी अपनी भाषा में होता है। दूसरे के वैभव को देखकर अपने को हीन समझने की भावना इनमें नहीं है। तभी वे निरन्तर प्रगतिशील हैं। अंग्रेजी का साहित्य सुन्दर है, वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है इसलिये अपनी भाषायें महत्वहीन हैं यह भावना भारत जैसे स्वाभिमानी स्वतंत्र राष्ट्र के लिये शोभनीय नहीं है। जो लोग अंग्रेजी के साहित्य पर मुग्ध हैं वे प्रसन्नतापूर्वक उसका अध्ययन करें। इसमें उन्हें किसी प्रकार की रुकावट नहीं होनी चाहिये किन्तु राष्ट्र के लिये उसकी उपयोगिता सिद्ध करने का बाधक प्रयत्न उन्हें नहीं करना चाहिये। देश के स्वाभिमान की रक्षा के लिये भारतीय भाषा ही राष्ट्रभाषा होनी आवश्यक है। राष्ट्र का गौरव इसी में है। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जो आज किन्हीं राजनैतिक कारणों से कट्टर हिन्दी विरोधी बन गये हैं बहुत समय तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद बराबर इस बात पर जोर दिया कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी होनी चाहिए। मार्च १९२९ में उन्होंने 'मदुरा टीचर्स एसोसिएशन' के सम्मेलन में भाषण करते हुए कहा था –

"राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा व्यापारिक सभी दृष्टियों से हिन्दी दक्षिण भारत के स्कूलों के पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य अंग होनी चाहिये ............सभी दक्षिण वालों को हिन्दी सीखनी चाहिए क्योंकि भारत में किसी भी प्रकार की प्रजातांत्रिक सरकार बनेगी तो हिन्दी ही केवल राजकीय भाषा हो सकती।"

उन्हीं दिनों अर्थात् सन् १९२९ में राजाजी ने कितनी दूरदर्शिता से हिन्दी की आवश्यकता अनुभव की थी यह उनके निम्न कथन से स्पष्ट होता है। 'इन्टर नेशनल फैलोशिप' नामक संस्था में राजाजी ने कहा था:–

"अंग्रेजी भारत की राजकीय भाषा तभी तक रह सकती है जब तक अंग्रेज यहाँ हैं। जब राजसत्ता भारतीय लोगों के हाथ में आयेगी तब अंग्रेजी को जारी रखने से नेताओं और अधिकारियों पर जनता का नियंत्रण कमजोर पड़ जायगा और सत्ताधारी वर्ग सर्वेसर्वा बन बैठेगा"।[1] "जनतंत्रीय शासन प्रणाली में एक अच्छी सरकार के लिये यह आवश्यक है कि उसके अधिकारी जनता से सम्पर्क स्थापित करें। इसके लिये भारतीय सरकार को कोई भारतीय भाषा चुननी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तानी या हिन्दी ही इसके लिए चुनी जानी चाहिये यही एक ऐसी भाषा है जो भारत में सर्वाधिक संख्या में बोली और समझी जाती है। यही भारत की जनभाषा है।[2]

राजाजी ने अन्य भारतीय भाषाओं का विवरण देते हुए कहा था कि हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिसे बंगाली मराठी गुजराती और इसी प्रकार के अन्य भाषा-भाषी लोग बड़ी आसानी से सीख सकते हैं। वे चाहते थे कि दक्षिण भारत में अनिवार्य हिन्दी योजना लागू की जानी चाहिये। इस दृष्टि से देखने पर राष्ट्रभाषा की अनिवार्यता और उसमें हिन्दी की प्रमुखता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। राजाजी ही नहीं देश के प्रायः सभी नेताओं ने तथा देश के उन्नायकों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन किया है। आज हिन्दी के विषय में नेताओं को इतनी झिझक

---

1 Englisb i necessarily the language of the administration so long as it is conducted by Englishmen. But when power is transferred to the people of this country the continuance of English would serve to weaken the control of the people over their representatives and servants and give exclusive power to a cast of mandarins.

2. It is essential of good government in democratic forms that the authorities should be in touch with the people. We must choose some Indian language as the Language of Government of India. It is obvious that the choice must be Hindustani... .. Hindusta i is the Language spoken and understood by the largest number in India, and is more or less already the Lingua Franca.

भौर इतना संकोच क्यों है ? भाषा के प्रश्न पर इतनी ढील क्यों दी जारही है ? यह प्रश्न केवल भारत में ही नहीं देश विदेशों म चर्चा का विषय बन गया है। विदेशी लोग हिन्दी सम्बन्धी आन्दोलनों से चकित हैं। वे समझ नहीं पाते कि देश में हिन्दी का इतना विरोध क्यों है ? जब दूसरे राष्ट्र हिन्दी के लिये पृथक विभाग खोल रहे हैं हिन्दी कवियों और लेखकों पर शोध कार्य कर रहे हैं तब भारत में English ever Hindi never के नारे क्यों लगाये जा रहे हैं ? जनता को हिन्दी के विरुद्ध क्यों भड़काया जा रहा है ? भाषा की यह असमंजस्यात्मक स्थिति शीघ्र समाप्त होनी चाहिये।

देश से अंग्रेजी की दासता शीघ्र समाप्त हो हमें इसका प्रयत्न करना चाहिये। राष्ट्र का गौरव इसी मे है कि हमारी राष्ट्रभाषा अपने देश की भाषा हो। बिना किसी बड़ी भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान दिये हम गौरवशाली देशों में अपनी गणना नहीं कर सकते। हमें अपनी राष्ट्र भाषा हिन्दी का जिसे संविधान ने देश के उच्चकोटि के नेताओं ने आदर प्रदान किया सम्मान करना चाहिये। इसी भाषा के माध्यम से हम सम्पूर्ण भारतवर्ष में भावनात्मक एकता स्थापित करने में समर्थ हो सकते हैं। इसी के द्वारा हमारी वैज्ञानिक धार्मिक ऐतिहासिक और सामाजिक प्रगति हो सकती है। हिन्दी के विकास से अन्य भारतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन मिलेगा। देश की उन्नति के लिये हमें कितना ही बड़ा त्याग क्यों न करना पड़े उसके लिये सदैव तैयार रहना होगा। क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत हो देश की एकता को नष्ट करना भयंकर अपराध है। हम परस्पर मिलकर प्रण करें कि अपने दैनिक व्यवहार तथा अन्य कार्यों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रयोग करेंगे और कहेंगे :—

'निवासी हिन्द के हम हैं हमें है गुफ्तगू हिन्दी'

---

# हिन्दी-कविता के विविध काल

किसी भाषा के साहित्य का अध्ययन करने से पूर्व उस भाषा की उत्पत्ति और विकास का सामान्य ज्ञान साहित्य के विद्यार्थी के लिये आवश्यक होता है। भाषा की प्रकृति और स्वरूप को जाने बिना उसके साहित्य का पूरा आनन्द नहीं लिया जा सकता। भाषा के विकास में संस्कृति जलवायु, नई जातियों का सम्पर्क रहन सहन तथा विभिन्न परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहता है। प्रत्येक भाषा की उत्पत्ति और विकास की एक दीर्घ परंपरा होती है। हिन्दी भाषा को वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने में युगों की लम्बी परम्परा पार करनी पड़ी है।

## वैदिक और लौकिक संस्कृत

हिन्दी का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त होता है। यही भारत की आदि भाषा थी जो वैदिक संस्कृत कहलाती है। सारे उत्तर भारत में आर्यों की साहित्यिक भाषा यही थी। ऋग्वेद की इस 'वैदिक संस्कृत' के अतिरिक्त सामान्य जनता में बोलचाल की जो भाषा प्रचलित थी वह 'लौकिक संस्कृत' कही जाती थी। यह भाषा साहित्य की भाषा की अपेक्षा अधिक सरल थी। बोलचाल की भाषा कभी एक स्वरूप में स्थिर नहीं रहती उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। शब्दों क्रियाओं तथा उच्चारण स्थानों में परिवर्तन हो जाता है। लौकिक संस्कृत भी इसी नियम के अनुसार परिवर्तित होती रही। सातवीं आठवीं सदी ईसा पूर्व में पाणिनि ने व्याकरण के नियमों द्वारा परिवर्तन के इस प्रवाह को रोकने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप 'लौकिक संस्कृत' व्याकरणबद्ध होकर साहित्य की भाषा बन गई जिसमें कालिदास भारवि भवभूति आदि ने उच्च कोटि के साहित्य की रचना की पर जनता के बीच बोली जाने वाली भाषा का स्वरूप बराबर बदलता गया।

### प्राकृत भाषायें

विद्वानों ने जनप्रचलित इस परिवर्तित भाषा को प्राकृत नाम दिया। प्राकृत भाषा सामान्य या प्राकृत जनों की भाषा थी। प्राकृत भाषा का जनता में अधिक प्रचार देखकर महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये। आगे चलकर तीसरी सदी ईसा पूर्व में अशोक ने अपने शिलालेख भी इसी भाषा में लिखवाये। इस प्राकृत भाषा का नाम 'पाली' है। धीरे धीरे यही 'पाली' साहित्य की भाषा बन गई और अधिकांश बौद्ध साहित्य इसी में लिखा गया। साहित्यिक भाषा बनने पर 'पाली' को भी व्याकरण बद्ध कर दिया गया किन्तु जनभाषा उसी रूप में परिवर्तित होती रही। बहुत अधिक बड़े भूभाग की भाषा होने के कारण प्राकृत में जलवायु तथा विभिन्न प्रान्तों की परिस्थितियों के अनुसार कुछ भेद दिखाई देने लगे जिससे विद्वानों ने इसके चार भेद किये।

| | |
|---|---|
| (१) मागधी प्राकृत | (३) शौरसेनी प्राकृत |
| (२) अर्द्ध-मागधी प्राकृत | (४) महाराष्ट्री प्राकृत |

### अपभ्रंश भाषायें

इन्हीं प्राकृत भाषाओं से आगे चलकर चार प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई। मागधी-अपभ्रंश अर्द्ध-मागधी-अपभ्रंश शौरसेनी-अपभ्रंश और महाराष्ट्री-अपभ्रंश। अपभ्रंश का अर्थ है भ्रष्ट या विकृत। किन्तु बाद में यही शब्द भाषा का द्योतक बन गया। अपभ्रंश में भी साहित्य की रचना होने लगी। वज्रयानी सिद्धों का साहित्य इसी भाषा में लिखा हुआ है। बौद्धों और जैनों के परवर्ती धार्मिक साहित्य की भी यही भाषा है। इस भाषा का समय ५००ई० से १०००ई० तक है।

### आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें

भारत की समस्त आधुनिक आर्य भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई है। मागधी-अपभ्रंश से बंगला उड़िया आसामी और बिहारी (मगही

मैथिली भोजपुरी) भाषाओं का जन्म हुआ। अर्धमागधी से पूर्वी हिन्दी (अवधी बघेली छत्तीसगढ़ी) का जन्म हुआ। शौरसेनी-अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी (खड़ीबोली ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी) राजस्थानी पंजाबी गुजराठी आदि की उत्पत्ति हुई। महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी निकली। इस भांति भारत की समस्त आर्य भाषाओं की जननी अपभ्रंश है जो अपने पूर्व रूप मे संस्कृत की पुत्री है। इस परम्परा में संस्कृत को ही सब भाषाओं का मूल उद्‌गम माना जाता है।

शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न 'पश्चिमी हिन्दी' और अर्द्धमागधी अपभ्रंश से उत्पन्न 'पूर्वी हिन्दी' की तीन भाषाओं में लिखा गया साहित्य हिन्दी भाषा के साहित्य में परिगणित होता है। "पश्चिमी हिन्दी" की खड़ी बोली ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी इन तीन भाषाओं में से खड़ीबोली व ब्रज भाषा साहित्यिक भाषायें हैं। पूर्वी हिन्दी' में अवधी बघेली छत्तीसगढ़ी इन तीन भाषाओं में से अवधी साहित्यिक भाषा है। ब्रजभाषा में सूरदास तथा उनके समकालीन महाकवियों ने कृष्णभक्ति की बड़ी सुन्दर रचनायें की हैं। अवधी में जायसी व तुलसीदास ने क्रमशः 'पद्‌मावत' और 'रामचरितमानस' जैसे अमर महाकाव्यों की रचना की है। खड़ीबोली आधुनिक युग की साहित्यिक भाषा है। इसमें आजकल बृहद् मात्रा में साहित्य लिखा जा रहा है। इसी भाषा को राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त है।

उपर्युक्त विकास के अनुसार हिन्दी भाषा का उत्पत्तिकाल १००० ई० माना गया है। इसके बाद ही इसमें साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई। विद्वानों ने १००० ई० से अब तक के रचित साहित्य को चार कालों में विभक्त किया है –

(१) आदिकाल– संवत् १००० से १४०० तक
(२) भक्तिकाल – संवत् १४०० से १७०० तक
(३) रीतिकाल – संवत् १७०० से १९०० तक
(४) आधुनिक काल – संवत् १९०० से आज तक

### आदिकाल

प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक भाषा की प्रारम्भिक रचनायें पद्य बद्ध होती हैं। हिन्दी की प्रारम्भिक रचनायें पद्यबद्ध हैं। आधुनिक युग में गद्य पद्य का विकास और विस्तार हुआ तभी गद्य और पद्य दोनों में रचनायें होने लगीं। हिन्दी का 'आदिकाल' पूर्णतः पद्यमय है। इस युग में भारत में बड़ी अशान्ति छाई हुई थी। महमूद गजनवी तथा शाहबुद्दीन गौरी के आक्रमण इसी युग में हुए। इनके बाद इस्लाम धर्मावलम्बियों ने भारत की समृद्धि से आकृष्ट हो स्थिर रूप से यहाँ के शासक बनने की आकांक्षा से तथा धर्म प्रचार करने के लिए लगातार आक्रमण किये। राजपूत क्षत्रियवीर इन विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा के लिये युद्ध करते रहते थे किन्तु आपसी फूट और असंगठित शक्ति के अभाव में वे इन आक्रान्ताओं पर विजय प्राप्त न कर सके। भारत परतन्त्र हो गया।

इस समय देश की सामाजिक स्थिति भी बड़ी डाँवाडोल थी। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। देशी राजा आपसी कलह में एक दूसरे से युद्ध करते रहते थे। स्वयम्वरों में अपनी शक्ति का प्रदर्शन एक मामूली घटना बन गई थी। वीरों का काम वीरता का खोखला प्रदर्शनमात्र रह गया था। जहाँ कहीं किसी सुन्दर कन्या का पता लगता वहीं वे उसे प्राप्त करने के लिए युद्ध छेड़ बैठते थे। इस प्रकार हिन्दी भाषा का यह आदिकाल युद्ध और शृंगार का युग था। ऐसे युग में वीर और शृंगार रस की रचनायें ही हो सकती थीं। युद्ध की गूंज के साथ राजाओं के आश्रित कविगण भी वीर-रस से पूर्ण ओजस्वी रचनायें करते थे। स्वभावतः इस युग में वीरगाथाओं और वीर रस प्रधान काव्यों का आधिपत्य हो गया। इसीलिए इस काल को 'वीर गाथा काल' कहा जाता है।

इस युग के अधिकांश कवि चारण और भाट थे जो राजाओं के आश्रय में रहते थे। वे कवि रणभूमि में शत्रुओं के विरुद्ध तलवार एवं

उत्साह देने के लिये ओज भरी कविताओं से अपने आश्रयदाताओं का यशोगान करते थे।

हिन्दी के आदिकाल के प्रसिद्ध कवि चन्दबरदाई हैं जिन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की है। वे पृथ्वीराज चौहान के सामन्त व सखा थे। युद्ध में पृथ्वीराज के साथ सक्रिय भाग लेते थे। 'पृथ्वीराज रासो' में इन्होंने युद्ध का बड़ा सजीव और ओजस्वी वर्णन किया है। इस काव्य में राजपूत वीरों के विविध युद्धों का ऐतिहासिक वर्णन है किन्तु चन्दबरदाई ने जिन युद्धों और घटनाओं का वर्णन इस काव्य में किया है वे इतिहास की तिथि के अनुसार ठीक नहीं उतरतीं। इस ग्रन्थ की भाषा भी कई प्रकार की है अतः इतिहासकार इस ग्रन्थ को जाली मानते हैं। इस ग्रन्थ की भाषा राजस्थान की डिंगल भाषा है जो अपभ्रंश के बाद विकसित हो रही थी।

'पृथ्वीराज रासो' के अतिरिक्त इस युग की अन्य प्रधान रचनायें 'बीसलदेव रासो' 'खुमान रासो' 'जयचन्द प्रकाश' 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका' आदि हैं। सभी ग्रन्थ वीर रस से परिपूर्ण हैं। बीसलदेव रासो' की रचना नरपति नाल्ह ने की है और 'खुमान रासो' के कवि दलपति विजय हैं। जगनिक कवि रचित 'आल्हखंड' भी प्रसिद्ध वीर रचना है।

वीरगाथा काल या आदिकाल की भाषा में अपभ्रंश डिंगल मैथिली और कहीं-कहीं खड़ीबोली का प्रयोग किया गया है। इस काल में खड़ीबोली के दर्शन अमीर खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में होते हैं। विद्यापति ने मैथिल भाषा में रचना की है। यह भाषा का विकास काल था अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी नये रूप में परिवर्तित हो रही थी। अतः इस युग के समस्त ग्रन्थों में कई प्रकार की मिश्रित भाषा के दर्शन होते हैं।

इस काल में दूहा पाघड़ी कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है।

आदि काल की साहित्य सामग्री साहित्य है जिसमें तत्कालीन जन जीवन व समाज का कोई चित्र नहीं है। कविगण अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उन्हीं की प्रशस्तियाँ गाना अपना कर्त्तव्य समझते थे शेष जनता की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसी युग के कवि विद्यापति ने जो रचनायें की वे शृंगार रस से परिपूर्ण हैं उसमें भी जन चित्र प्राय नहीं मिलते। इस युग का भाषा विकास की दृष्टि से अधिक महत्व है।

भक्तिकाल सं० १४०० से १७००

पृथ्वीराज की पराजय के बाद धीरे-धीरे उत्तरी भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया। राज्य विस्तार के साथ इन्होंने धर्म प्रचार का कार्य भी प्रारंभ कर दिया। ऐसी परिस्थिति में धर्मप्राण हिन्दू जनता पर चारों ओर से निराशा और दुःख के बादल छा गये। उनकी पुकार सुनने वाला दीनबन्धु भगवान् के सिवाय कोई न रहा। राजपूत क्षत्रियों की शक्ति क्षीण हो गई। उनकी वीर भावना परवशता में तिरोहित सी हो गई। कवियों के राज्याश्रय उजड़ गये। भिन्न धर्मी होने के कारण हिन्दू मुसलमानों का आपसी वैमनस्य बढ़ने लगा। हिन्दुओं को मृत्यु अथवा धर्म परिवर्तन के सिवाय कोई तीसरा मार्ग नहीं दिखाई देता था। ऐसी दुस्तर परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये भगवान का आश्रय ही एक मात्र उपाय था। फलतः अपने हृदय के समस्त दुःखों की पुकार भगवान के दरबार में की जाने लगी। युग की परिस्थितियों के अनुरूप ही साहित्य रचना होने लगी। इस समय वीर रस की रचनायें न होकर भक्तिभाव की रचनायें होने लगीं। साहित्य में भक्तिभाव की प्रधानता के कारण इस युग को 'भक्तिकाल' कहा गया है।

भक्तिकाल की रचनाओं को सगुण और निर्गुण भक्ति के आधार पर दो भागों में विभक्त किया गया। पुन सगुण भक्ति में रामोपासक कवि तथा कृष्णोपासक कवियों की रचना के आधार पर इसके 'रामभक्ति शाखा तथा 'कृष्णभक्ति शाखा ये दो भेद किये गये। इसी प्रकार

निगु ण भक्ति में ज्ञान और प्रेम मयी भक्ति के आधार पर 'ज्ञानामयी' और 'प्रेमामयी' दो भक्ति धारायें प्रवाहित हुईं। इस भांति भक्तिकाल की रचनायें चार भागों में विभक्त हो गईं।

| निगु ण भक्ति | सगुण भक्ति |
|---|---|
| (१) ज्ञानामयी शाखा | (१) कृष्णभक्ति धारा |
| (२) प्रेमामयी शाखा | (२) रामभक्ति धारा |

उपर्युक्त चार प्रकार की भक्ति रचनाओं में कवियों ने देश काल के अनुकूल जनता को भक्ति की ओर प्रेरित किया। भक्ति युग के सर्वप्रथम कवि कबीर हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा – भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक सन्त कबीर हैं। कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों में प्रेमभाव उत्पन्न करने के लिये दोनों धर्मों के बाह्य पाखंडों की तीव्र आलोचना करके भगवान् के निराकार रूप की उपासना पर बल दिया। उन्होंने धर्म के उन सब बाह्य रूपों का खंडन किया जो दोनों धर्मावलम्बियों के बीच मतभेद उत्पन्न करते थे। जैसे हिन्दुओं की जातिपांति व्यवस्था ब्राह्मणों के पोथी पन्ने जप माला तिलक छापे तीर्थयात्रा श्राद्ध आदि और मुसलमानों की नमाज कुरान हिंसा, रोजा आदि। कबीर ने बताया कि राम और रहीम में कोई भेद नहीं है। ये तो ईश्वर के बाह्य नाम हैं। ईश्वर तत्वतः एक ही है। वह सब में समान भाव से समाया हुआ है। सब उसी की सन्तान हैं। कबीर के पदों, बानियों साखी आदि में इन्हीं भावों की अभिव्यंजना है। कबीर की इस भक्ति पद्धति की ओर जनता आकर्षित हुई और हिन्दू मुसलमानों के बीच काफी हद तक एकता का भाव उत्पन्न हुआ।

ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्य सन्त कवियों में दादू, रैदास नामदेव नानक सुन्दरदास मलूकदास आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। ये सन्त कवि अधिकतर नीची जाति में से थे किन्तु उत्तम भक्तिभाव तथा साहित्य रचना के कारण सर्वसाधारण जनता में पूज्य बन गये थे।

निर्गुणभक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं –

(१) इस शाखा के कवि ज्ञान के आधार पर ईश्वर के सर्वव्यापी रूप की भक्ति व उपासना पर बल देते हैं। वे बाह्य पाखंडों के कट्टर शत्रु हैं।

(२) इस शाखा के सब कवियों ने गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया है क्योंकि गुरु ही मनुष्य को परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है।

(३) इन कवियों ने माया-मोह की निन्दा व संसार की असारता का बड़े प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है।

इन सन्त कवियों की भाषा में पंजाबी, राजस्थानी ब्रज खड़ी बोली, अवधी उर्दू फारसी सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि ये कवि भ्रमण करते रहते थे और जिस देश में जाते थे वहीं की भाषा के शब्द इनकी रचनाओं में आ जाते थे। मिश्रित भाषा के कारण इनकी भाषा 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी भाषा' कहलाती है। कबीर की भाषा में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

ज्ञानाश्रयी सन्त कवियों ने अपनी रचना 'साखी और 'सबदों' में की है। 'साखी' दोहे छन्द में है और 'सबद' पदों में।

सन्त कवियों में अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने 'मसि कागद' को हाथ भी नहीं लगाया था किन्तु सच्ची अनुभूति के कारण इनके पदों में स्वाभाविक सौन्दर्य है। अलंकार, अनुप्रास से रहित होने पर भी उनमें माधुर्य और प्रभविष्णुता है। कबीर के निम्न पद कितने भाव पूर्ण हैं –

मालो आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुन लई काल्ह हमारी बार॥

सगुणोपासक कवियों ने दुखी पीड़ित और निराश जनता को ईश्वर के उस रूप के दर्शन कराये जो सुख-दुख का साथी है, जो भक्तिकाल में रक्षक है जो भक्तों की पुकार पर दौड़ा चला आता है जो बहुत सुन्दर और शक्तिशाली है। इस लोक की समस्त बाधायें उस भगवान् के स्मरण मात्र से नष्ट हो जाती हैं।

रामभक्ति व कृष्णभक्ति काव्य के मूल आधार वाल्मीकि रामायण और श्रीमद्भागवत हैं।

कृष्णभक्ति शाखा में सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि सूरदास हैं। वे भी वल्लभाचार्य के शिष्य थे और उन्हीं के कहने पर इन्होंने कृष्ण की बाल छवि व शृंगार का वर्णन किया है। वे श्रीनाथ जी के मंदिर में नित्य एक नया पद बनाकर कृष्ण की लीला का कीर्तन करते थे। इस भाँति कृष्ण लीला गायन में इन्होंने सवा लाख पदों की रचना की। इन सवा लाख पदों में से आजकल पाँच हजार के लगभग पद प्राप्त हैं। इन पदों का संग्रह 'सूरसागर' में किया गया है।

सूर के वात्सल्य और शृंगार वर्णन की तुलना में आज तक अन्य कवि नहीं दिखाई देता। कृष्ण के बाल्यकाल के बड़े मधुर, मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक चित्र इनके पदों में अंकित हैं। माता यशोदा का वात्सल्यप्रेम सूर ने जिन शब्दों में वर्णित किया है उनसे मातृ-हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना इस भाँति प्रकाश में आई है कि माता यशोदा कृष्ण की माता ही नहीं जगन्माता हो गई हैं। यशोदा नाम के साथ मातृ हृदय लिपटा सा आता है। इसी प्रकार कृष्ण की बाल चेष्टायें संसार के प्रत्येक बालक की चेष्टा व भावों का एक मनोवैज्ञानिक क्रमिक विकास सा उपस्थित करती हैं। कृष्ण-कन्हैया प्रत्येक बच्चे का प्रतिरूप है। तभी आलोचकों ने सूर के वात्सल्य और शृंगार वर्णन की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए उन्हें सूर (सूर्य) का पद प्रदान किया है, यथा –

सूर सूर तुलसी ससि उडुगन केसवदास ।
अन्य कवि खद्योत सम जँह तँह करत प्रकास ॥
तत्व तत्व सूरा कही तुलसी कही अनूठी ।
बची खुची कबिरा कही और कही सब झूठी ॥
किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत सरीर ॥

सत्य ही सूर के वात्सल्य-वर्णन में 'अन्य कवियन की उक्ति मोहि लागे झूठी आन झूठी सूरदास की' की उक्ति पूर्णतया यथार्थ है ।

वात्सल्य की भाँति सूर का शृंगार वर्णन (संयोग वियोग) भी उत्कृष्ट कोटि का है । संयोग में कृष्ण की रूप माधुरी गोपियां व परिजन मुरली वादन रासलीला पनघट लीला, कुञ्ज विहार, दधि-माखन चोरी आदि का मनोहारी वर्णन है और कृष्ण के मथुरा चले जाने पर माता यशोदा और गोप-गोपियों का विरह वर्णन भी अपूर्व है । कृष्ण द्वारा भेजे गये निर्गुण ज्ञान के संदेश पर गोपी हृदय के भाव वर्णन में सूर ने अपनी प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाया है । ऊधो के प्रति कही गई गोपियों की उक्तियों में वाग्विदग्धता और मार्मिकता है ।

वात्सल्य शृंगार के अतिरिक्त सूर ने भगवान् कृष्ण को सखा मानकर बहुत से विनय-पदों की रचना की है । इन पदों में भक्ति भाव व जीव की दीनता का चित्रण है । सूर की भक्ति कृष्ण को सखा मानने के कारण 'सख्यभाव' की कहलाती है ।

सूर की भाषा ब्रज भाषा है । इन्होंने जयदेव और विद्यापति की गीत पद्धति पर गीतों की रचना की है । पदों में संगीत की प्रधानता है । भाषा बड़ी सरस भावग्राही है । अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग होने पर भी भाषा में जटिलता नहीं आई ।

कृष्ण भक्ति के आठ कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध है । इन कवियों के नाम है—सूरदास कुम्भनदास नन्ददास कृष्णदास छीतस्वामी,

गोविन्ददास चतुर्भुजदास परमानन्ददास। उपर्युक्त आठों कवियों में से साहित्य में सूरदास व नन्ददास विशेष प्रसिद्ध है।

अष्टछाप के अतिरिक्त कृष्णभक्ति के अन्य कवियों में रहीम रसखान और मीरां का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रहीम और रसखान यदि वे मुसलमान थे किन्तु कृष्णभक्ति में उनकी रचनायें बड़ी सरस और भावभक्ति पूर्ण हैं। रसखान तो ब्रज की गलियों करील कुन्जों पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिये उद्यत थे। उनकी निम्न पंक्तियाँ –

मानुस हौं तो वही 'रसखान' बसौं ब्रजगोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।

बड़ी प्रसिद्ध हैं। रहीम के दोहों में कहीं-कहीं बड़ी ऊँची भावनायें व्यक्त हुई हैं जैसे –

अच्युत चरन तरंगिनी शिव सिर मालति माल
हरि न बनायो सुरसरि कीजो इन्दव भाल।

दोहे में गंगा के प्रति आदर भाव व्यक्त किया है। नीचे की पंक्तियाँ कृष्णभक्ति की हैं –

तैं 'रहीम' मन आपुनों कीन्हौं चारु चकोर
निसि बासर लाग्यो रहै कृष्ण चन्द्र की ओर।
रहिमन कोई का करै ज्वारी चोर लबार
जो पत राखन हार है माखन-चाखन हार।

मुसलमान होते हुए भी उक्त दोनों कवियों के भाव कितने भक्तिपूर्ण और सरस हैं।

मीरां की कृष्ण भक्ति माधुर्य भाव की है। इन्होंने घरबार छोड़कर कृष्ण को अपना तन मन धन अर्पित कर दिया था। वे कृष्ण को ही अपना पति मानती थी अतः उनकी सेवा अर्चना तथा भक्ति में आत्म विभोर हो नाचने लगती थी। कृष्ण के विरह में मीरां ने अपने हृदय के

भावों को बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। उनका एक-एक पद 'प्रेम की पीर' का उमड़ता सागर है। इन पदों में न कोई बनावट है न कोई सजावट। स्वाभाविक होने के कारण ही वे भक्त हृदयों को भाती हैं। मीरा की 'माधुर्य भाव' की भक्ति का आगे अन्य कृष्णभक्त कवियों ने भी अनुसरण किया। मीरा के पद समस्त भारतवर्ष में बड़े प्रेम से गाए जाते हैं।

सम्पूर्ण कृष्णभक्ति साहित्य गेय पदों में लिखा गया है। इस धारा के किसी कवि ने प्रबन्धकाव्य की रचना नहीं की। कृष्णभक्ति में कवियों ने प्रायः कृष्ण के रूप सौन्दर्य या बाल रूप का ही वर्णन किया है उनकी शक्ति, पौरुष दानव-दमन आदि लोक-हितकारी रूपों का वर्णन करने में इन कवियों की रुचि नहीं है। शृंगारिक पदों के आधिक्य से आगे चलकर रीतिकाल में कृष्ण और राधा के नाम पर घोर अश्लील शृंगारिक रचनायें कवियों ने की। राधा और कृष्ण सामान्य नायक नायिकाओं के रूप में अंकित किए गये। प्रत्येक छैल रसिक पुरुष 'कृष्ण' और प्रत्येक चंचलशोभी स्त्री 'राधा' नाम से अभिहित हुई। कृष्णभक्ति साहित्य का यह रूप कुछ सीमा तक लोक-हितकारी होने की अपेक्षा हानिकर सिद्ध हुआ किन्तु जहाँ तक सूर तथा अन्य अष्टछाप कवियों की रचनाओं में कृष्ण की बालछवि का वर्णन है वह जनता के शुष्क मनों में रसधारा बहाने में पूर्ण सफल हुई। सूर के विनयपद तो जनता के कण्ठहार बने गये हैं।

कृष्णभक्त कवियों की भाषा ब्रजभाषा है।

रामभक्ति धारा – हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की चौथी धारा रामभक्ति धारा है। इस धारा के कवियों ने भगवान् राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप का आधार लेकर जनता के समक्ष उनके आदर्शों का प्रतिपादन किया। कृष्णभक्ति सख्य भाव की है और रामभक्ति दास्य भाव की। रामभक्त कवियों ने दास बनकर राम की उपासना की है। तुलसी ने

राम सो बड़ो है कौन छोटो कौन मोसो।
राम सो खरो है कौन खोटो कौन मोसो।

की भावना से अपने हृदय की समस्त व्यथा राम के चरणों में उँडेल दी है। उद्धार भगवान् एक न एक दिन कृपा करेंगे ही।

राम का चरित्र मर्यादावादी है। इसमें माधुर्य और शृंगार रस का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं जितना कृष्ण के चरित्र में कवियों ने ढूंढ निकाला था। अतः इस शाखा में गिने चुने कवि हैं। रामभक्ति के सर्वोच्च कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। इनका चरित्र व्यक्तित्व व काव्य कौशल इतना महान् था कि अन्य रामभक्त कवियों की रचनायें प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकीं। 'तुलसीदास' का 'रामचरित मानस' साहित्य का शिरोमणि है। इसकी तुलना में अभी तक हिन्दी में दूसरा प्रबन्धकाव्य नहीं लिखा गया। इस ग्रन्थ में तुलसी ने लोक धर्म की बड़ी सुन्दर स्थापना की है। राम के चरित्र वर्णन में उन्होंने समाज के छोटे बड़े ऊँच-नीच धर्मी-अधर्मी गृहस्थी-सन्यासी सभी वर्गों के लिये प्रभूत सामग्री प्रदान की है। मुगल काल की निराशामयी रजनी में भगवान् राम के लोक रक्षक स्वरूप का सूर्य प्रकाशित हुआ जिसमें समस्त अन्धकार विलीन हो गया। आशा उत्साह, हर्ष और आनन्द की निर्झरिणी फूट पड़ी मंगल प्रभात हुआ।

तुलसी का 'रामचरित मानस' उत्तरी भारत की जनता का कंठहार है। इस ग्रन्थ में हिन्दू धर्म के समस्त आदर्शों का वर्णन है किन्तु वह उप देशात्मक न होकर रसात्मक है। इसमें राम के शील सौन्दर्य और शक्ति का बड़ा हृदयग्राही स्वरूप अंकित है। रामायण की एक-एक चौपाई एक धर्म ग्रन्थ का स्वरूप है। माता-पिता गुरुजनों की आज्ञा पालन सन्तान का धर्म है तुलसी ने इस धर्म की व्याख्या निम्न प्रकार से की है —

अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन
ते भाजन सुख सुयश के बसहिं अमर पुर ऐन।

सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करै सिर मानि।
सो पछिताय अघाय उर अवसि होय हित हानि ॥

राजा-प्रजा संबंध पर उन्होंने लिखा है –

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

रामायण में भाई-भाई, पिता-पुत्र माता-पुत्र पति-पत्नी गुरु-शिष्य स्वामी-सेवक राजा प्रजा सभी सम्बन्धों का बड़ा आदर्श चित्रण हुआ।

रामायण की भाषा साहित्यिक अवधी है तथा छन्द दोहे और चौपाई हैं। तुलसीदास ने रामचरित मानस के अतिरिक्त अनेक ग्रंथों की रचना की है जिनमें अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है। दोनों भाषाओं के साथ युग की प्रचलित सभी काव्य पद्धतियों का भी इन्होंने प्रयोग किया है। भक्ति क्षेत्र में तुलसी और सूर का स्थान एक समान है। सूर और तुलसी हिन्दी काव्याकाश के प्रभासमान सूर्य-चन्द्र हैं।

रामभक्ति धारा के अन्य कवि हैं नाभादास प्राणचन्द चौहान, अग्रदास हृदयराम केशवदास आदि।

रामभक्ति साहित्य का जनहित की दृष्टि से कृष्णभक्ति साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व है। इस साहित्य ने जनता व समाज को भक्ति रस के साथ अपने कर्तव्य की ओर भी सचेत किया। समाज में धर्म व शील की स्थापना हुई।

रामभक्ति परम्परा में आधुनिक कवि मैथलीशरण गुप्त भी तुलसी के समान मर्यादा व आदर्श के रखवाली हैं।

## रीतिकाल (१७००–१९००) –

हिन्दी में भक्तिकाल के 'स्वर्ण युग' के पश्चात् रीतिकाल का प्रारंभ हुआ। 'रीति' का अर्थ है 'काव्य शास्त्र के सिद्धान्त'। इस युग में कवियों ने काव्य के लक्षण और उदाहरणों की रचना अधिक की है तथा नायक-नायिका वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि की भी प्रधानता है। इन

समय तक मुगल शासक भारत में अच्छी प्रकार जम गये थे। देश में शान्ति स्थापित हो गई थी। हिन्दू-मुसलमान परस्पर हिल-मिल गये थे। भक्ति भाव की रचनाओं से भेद भावना कुछ सीमा तक दूर हो गई थी।

शान्ति के समय शासकों में विलासिता का प्रादुर्भाव एक स्वाभाविक वृत्ति है। मुगल शासक सुरा सुन्दरी के प्रेमी थे। उनका जीवन वैभव विलास के सम्पूर्ण साधनों से भरा-पूरा था। संगीत कला साहित्य आदि के प्रति उन्हें प्रेम था। अपने शासकों का अनुकरण कर छोटी राजाओं में भी इन प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था। वे अपने मनोरंजन के लिये बड़े बड़े संगीतज्ञों कलाकारों तथा कवियों को अपने दरबारों में आश्रय देते थे। ये आश्रित कलाकार और कवि अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिये उनकी रुचि के अनुकूल रचनायें किया करते थे। स्वाभावतः वे रचनायें शृंगारिक और वैभव-विलास के चित्रों से परिपूर्ण हैं। इन रचनाओं में नायक-नायिका के शृंगार का उनके नख-सिख का विस्तृत वर्णन है। कवियों की सारी काव्य प्रतिभा इन्हीं विषयों तक सीमित है।

इस युग में दो प्रकार के कवि हैं। एक वे जो काव्य के लक्षण लिखकर उदाहरण के लिये कवित्त सवैयों की रचना करते थे दूसरे वे जो राजाओं के आश्रय में रहकर उनके मनोरंजनार्थ शृंगारिक रचना करते थे। वैभव-विलासी शासकों के मध्य रहने वाले इन कवियों ने सामान्य गरीब जनता की ओर ध्यान न देकर मनमाने तौर पर कविता के साथ खिलवाड़ किया है। इन कविताओं में या तो गुलगुली गिलमों गद्दों, वस्त्राभूषणों सुन्दरी नायिकाओं दूतियों आदि का वर्णन है या किसी नायिका के हाव भावों का अतिरंजित वर्णन है। शरीर के एक-एक आभूषण और एक एक अंग की शोभा वर्णन में हजारों पद लिखे गये हैं। शृंगार की अधिकता के कारण ही बहुत से आलोचकों ने 'रीतिकाल' को 'शृंगारिक काल' कहा है।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कि कृष्णभक्ति के अमर्यादित शृंगार वर्णन ने आगे आकर 'राधा कृष्ण' को सामान्य नायक नायिका मात्र बना दिया। रीतिकाल के कवियों ने 'राधा कृष्ण सुमिरन' को बहानो लेकर कृष्ण राधा के नाम पर घोर अश्लील रचनाओं की सृष्टि की है। पूरे २०० वर्ष तक साहित्य में शृंगारिक रचनाओं की धूम रही। सैकड़ों कवियों ने एक पिसी परम्परा के आधार पर अपनी कवित्व शक्ति का खोखला प्रदर्शन किया है। सम्पूर्ण रचनायें एक ही ढांचे में ढली हुई हैं। उनमें अपना निजी व्यक्तित्व नहीं है।

किन्तु इन सबका तात्पर्य यह नहीं कि 'रीतिकाल' में उत्कृष्ट कोटि के कवियों या भावपूर्ण रचनाओं का अभाव है। इस युग के कुछ कवियों के नाम साहित्य के इतिहास में सदैव अमर रहेंगे। देव मतिराम बिहारी घनानंद ठाकुर, भूषण पद्माकर, दीनदयालगिरि गिरधरदास आदि इस युग के प्रसिद्ध कवि हैं।

उपर्युक्त कवियों में कविवर बिहारीलाल का नाम सर्वोपरि है। बिहारी के नाम से न केवल हिन्दी पाठक अपितु अन्य बहुत से लोग परिचित हैं। इनकी बिहारी सतसई रीतिकाल का सर्वोत्तम मान्य ग्रंथ है। इस एक ग्रन्थ से ही बिहारी की कीर्ति अमर हो गई है। बिहारी को एक एक दोहे पर जयपुर नरेश जयसिंह से एक-एक अशर्फी मिलती थी। इस ग्रन्थ में रीतिकाल की सभी विशेषताओं का समावेश है। दोहे जैसे छोटे छंद में शृंगार रस के भाव विभाव अनुभाव संचारी आदि भावों का पूर्ण परिपाक है। अलंकार व शब्द शक्ति के उत्तम उदाहरण इन दोहों में विद्यमान हैं। असंगति अलंकार या विरोधाभास बिहारी का प्रिय अलंकार था। इनकी व्यंजना कहीं-कहीं बहुत ही सुन्दर हुई। यथा –

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्याम रंग त्यों त्यों उज्जल होय।

(विरोधाभास)

हग उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये दई नई यह रीति।

(असंगति)

संयोग व वियोग शृंगार के बड़े उत्तम भाव कहीं-कहीं उन्होंने व्यक्त किये हैं। परन्तु जहां ऊहा को अपनाया है वहां अस्वाभाविकता आ गई है जैसे किसी वियोगिनी नायिका की दुर्बलता का यह चित्र –

इत आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे से रही मारि उसासन साथ।

अथवा रूप का यह अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन –

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहु पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन ओज उजास।

दोहे छन्द की छोटी सी परिधि में बिहारी ने जिन भावों को व्यक्त किया है अन्य कवि उसी भाव को छः या आठ पंक्ति के छप्पय तथा कवित्त सवैया जैसे बड़े छंद में भी स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। इसीलिए 'बिहारी' के दोहे 'गागर में सागर' भरने वाले कहे जाते हैं। किसी ने कहा है –

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।

सतसई का अर्थ है सात सौ पदों का काव्य। 'बिहारी सतसई' में सात सौ दोहे हैं। इसका अनुकरण कर इस युग में अन्य सतसई भी लिखी गई।

रीतिकाल की शृंगारिक धारा में वीर रस की रचना करने वाले भूषण कवि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'भूषण' पहले शिवाजी और फिर महाराज छत्रसाल के आश्रित कवि थे किन्तु उन्होंने अपनी लेखनी का उपयोग राजाओं के वैभव चित्रण

के लिए न करके देश और जाति की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध करने वाले वीर शिवाजी और छत्रसाल की शूरवीरता के वर्णन में किया है। इनकी कविता का मुख्य विषय वीरों का कीर्तिगान और युद्ध वर्णन है। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दू राष्ट्र व हिन्दू संस्कृति का गौरव बढ़ाया। भूषण ने अपने युग की परंपरा के अनुकूल एक अलंकार ग्रन्थ जिसका नाम है 'शिवाबावनी' की रचना की है किन्तु उसमें भी वीर शिवाजी की वीरता का वर्णन है। उनकी कविता ब्रज भाषा में है जिसका एक उदाहरण प्रस्तुत है –

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है।
बिलखि बदन बिलखत बिजैपुर-पति
फिरत फिरंगनि की नारी फरकति है।
थर-थर काँपत कुतुबसाहि गोलकुण्डा,
हहरि हबस भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते बादसाहन की छाती धरकति है।

संक्षेप में 'रीतिकाल' के मुख्य विषय प्रेम और शृंगार हैं। लाल भूषण आदि कवि इस काल के अपवाद स्वरूप हैं। इस युग की कविता वैभव की प्रदर्शनी मात्र है। प्रायः सब कवि दरबारी थे जिन्होंने जीविका प्राप्ति की लालसा में अपने आश्रयदाताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण गुणगान किया है सामान्य जनता के लिए इन कवियों ने कोई आदर्श उपस्थित नहीं किया। रीतिकाल की कविता में कलापक्ष की कलाबाजी है भावों के प्रति कवियों का अनुराग नहीं है। कविता में बनावटीपन है।

इस काल की भाषा ब्रजभाषा है और छंद, कवित्त सवैया दोहा आदि। प्रबन्धकाव्य की रचना इस युग में प्रायः नहीं हुई।

**आधुनिक काल (सं० १६०० ई० से अब तक)।–**

हिन्दी का आधुनिक काल प्रारम्भ होने से पूर्व देश की राजनैतिक स्थिति में महान् परिवर्तन हुए। मुगल-शासकों की विलासिता और आपसी ईर्ष्या-द्वेष ने राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। सारे भारत में फूट का जाल बिछ गया। एक दूसरे से शक्ति हथियाने में भयंकर षड्यन्त्र होने लगे। आपसी लड़ाई-झगड़ों से लाभ उठाकर सुदूर पश्चिम से आई हुई ब्रिटिश जाति ने भारत पर अधिकार कर लिया। मुगल साम्राज्य समाप्त हुआ और अंग्रेज़ी साम्राज्य स्थापित हुआ। अंग्रेज शासकों के आगमन से देश की राजनैतिक सामाजिक धार्मिक आर्थिक सभी स्थितियों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। कुछ दिशाओं में देश ने बड़ी प्रगति की और कुछ अर्थों में जैसे भारतीय रहन-सहन खान-पान, रीति-रिवाज आदि में विदेशों का अन्धानुकरण हुआ। कुछ देशभक्त सुधारकों ने भारत की डांवाडोल परिस्थिति का अध्ययन कर युग के अनुकूल सुधार आंदोलन चालू किये। राजा राममोहनराय का 'ब्रह्म समाज' स्वामी दयानन्द का 'आर्य समाज' दो बड़ी प्रबल सुधारवादी संस्थाओं ने जन्म लिया। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई।

अंग्रेज शासकों ने अपने देश को समृद्ध करने के लिए भारतीय उद्योग-धन्धों को चौपट कर दिया। यहां की कारीगरी धीरे-धीरे समाप्त हो गई। विदेशी वस्तुएं जहाजों पर लदकर भारत आने लगीं और भारत का धन व सोना लदकर विदेश जाने लगा। देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। गरीबी छा गई। किन्तु दूसरी ओर अंग्रेजों ने शासन की सुविधा व सुव्यवस्था के लिए रेल तार, डाक प्रेस सड़क बिजली आदि का प्रबन्ध किया। जगह-जगह स्कूल कालेज खुल गये। अंग्रेजी भाषा का प्रचार बढ़ा। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो गया। देश में नवजागरण हुआ। विदेशी संस्कृति और शिक्षा के प्रभाव से देशवासियों में नव चेतना आई। उनमें देशभक्ति व स्वतन्त्रता का भाव जागृत हुआ।

भारतेन्दु युग –

ऐसी परिस्थिति में देसी राजाओं के आश्रित कवियों के आधार उखड़ गये। सामन्ती युग बीत गया 'रीतिकालीन' शृंगारिक कविता को सुनने वालों की संख्या धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। देश की परिवर्तित अवस्था में ऐसे साहित्य की आवश्यकता अनुभव होने लगी जो जनता में ज्ञान विज्ञान का संचार कर सके जो देश की अवस्था का ज्ञान जनता को करा सके। आवश्यकता के अनुकूल इस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे साहित्यकार का जन्म हुआ। उन्होंने अपने युग की परिस्थितियों का तथा साहित्य परम्पराओं का गहन अध्ययन किया और युग के अनुकूल काव्य की रचना प्रारम्भ की। नवीन युग में खड़ीबोली गद्य का विकास तो हुआ किन्तु कविता की भाषा ब्रजभाषा ही थी। भारतेन्दु ने ब्रजभाषा में देश की धार्मिक सामाजिक तथा नैतिक स्थिति का चित्रण करके देशवासियों का ध्यान अपने देश की दुर्दशा की ओर आकर्षित किया। यथा –

आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा देखि न जाई।

अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा करते हुए भी भारत की आर्थिक दुर्दशा का चित्र इन्होंने प्रस्तुत किया –

अंगरेजों राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की युगान्तरकारी प्रतिभा से साहित्य में जनजीवन का जीता जागता चित्र उपस्थित हुआ। साहित्य का राजदरबारों की सीमित परिधि से हटकर जनता के विशाल खुले प्रांगण में प्रवेश हुआ। भारतेन्दु ने स्वयं देशभक्ति की रचनायें की तथा अपने सहयोगी लेखकों को इस पुण्य कार्य के लिये प्रेरित किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र अम्बिकादत्त व्यास बालकृष्ण भट्ट चौधरी बद्रीनारायण 'प्रेमघन' आदि कवियों ने नाटकों और कविताओं द्वारा देश को जगाने का प्रयत्न किया।

द्विवेदी जी ने अपने मनोनुकूल साहित्य की रचना के लिए युग के प्रतिभा सम्पन्न कवियों और लेखकों को प्रोत्साहित किया। उनकी सत्प्रेरणा पाकर कवियों ने युग की आवश्यकता के अनुकूल देशप्रेम स्वदेश भक्ति, भारत का अतीत वैभव स्त्री शिक्षा सदाचार, शिक्षा प्रचार, वीरों की प्रशस्ति राजनैतिक चेतना आदि विषयों पर विस्तृत काव्य रचना की। द्विवेदी जी ने न केवल कवियों को विषय सम्बन्धी सुझाव ही दिये अपितु उन्होंने भाषा की सुव्यवस्था, कविता के लिए ब्रजभाषा का परित्याग शृंगार रस की रचनाओं की निन्दा आदि के द्वारा साहित्य का नवीन मार्ग प्रशस्त किया। इन्हीं कारणों से इस युग को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है।

द्विवेदी युग में श्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय डा० गोपालशरणसिंह रामनरेश त्रिपाठी गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', नाथूराम शंकर जैसे उच्चकोटि के कवियों ने काव्य रचना करके साहित्य की श्री वृद्धि की है। कवियों के अतिरिक्त इस युग में पं० रामचन्द्र शुक्ल, बा० श्याम सुन्दर दास मिश्रबन्धु, बा० गुलाबराय जैसे आलोचक व गद्य लेखक भी हुए। जयशंकर प्रसाद के अधिकांश नाटकों की रचना इसी काल में हुई।

श्री मैथिलीशरण गुप्त और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय द्विवेदी युग की दो महान् विभूतियां हैं। 'हरिऔधजी' ने अथक परिश्रम करके खड़ी बोली में 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य की रचना की। खड़ीबोली में ब्रजभाषा जैसी मधुरता नहीं थी अतः प्रारम्भ में कुछ लोग खड़ीबोली में कविता करने के प्रयत्न विरुद्ध थे। न तो खड़ीबोली के अपने छंद ही थे न भाषा में पर्याप्त अभिव्यंजना शक्ति थी अतः इस युग में खड़ीबोली में काव्य रचना करना आसान काम न था किन्तु अयोध्यासिंह उपाध्याय ने संस्कृत छंदों को लेकर 'रामाकृष्ण' के चिर-परिचित काव्य विषय पर खड़ीबोली में रचना करके एक अद्भुत शक्ति का परिचय दिया। 'प्रिय प्रवास' की भाषा नई है, हिन्दी में संस्कृत छंदों का प्रयोग नया है। कृष्ण को मानव

रूप में तथा राधा को समाजसेविका के रूप में प्रस्तुत करना नया है कृष्ण के समस्त अलौकिक कार्यों की बुद्धिसंगत व्याख्या नवीन है और प्रकृति का आलम्बन रूप में पुन प्रयोग तथा 'नवधा भक्ति' को देशभक्ति में परिवर्तित करना नवीन है। इस भांति 'प्रियप्रवास' द्विवेदी युग का एक सर्वथा मौलिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ को देखकर खड़ीबोली में धड़ाधड़ रचनायें होने लगीं। पं० रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित चिन्तामणि' प्रबन्धकाव्य की रचना की और मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' जैसा सुन्दर प्रबन्धकाव्य लिखा।

हिन्दी साहित्य में 'साकेत' की रचना अपने प्रकार का नवीन प्रयोग है। इसकी कथावस्तु रामचरित ही है जिस पर तुलसीदास का गौरव शाली महाकाव्य 'रामचरित मानस' लिखा गया है किन्तु 'साकेत' की कथा में भाव और शैली दोनों ही दृष्टियों से बहुत भिन्नता है। साकेत के राम आदर्श पुरुष राम हैं, भगवान् नहीं सीता आदर्श पत्नी होने के साथ साथ परिश्रमशील स्वावलम्बिनी नारी है। जंगल में रहकर वह सूत कातती है, भोली किरात भील बालाओं से परिचय बढ़ाती है। 'साकेत' की सबसे महत्वपूर्ण घटना है लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला की विरह वेदना का विस्तृत वर्णन। उर्मिला ने सीता से भी अधिक त्याग किया। वह चौदह वर्ष तक लक्ष्मण की स्मृति में आंसू बहाती रही किन्तु किसी कवि ने उर्मिला के लिए एक दो पंक्ति भी नहीं लिखी। आधुनिक युग में नारी का सम्मान बढ़ा उसे दीन-हीन अबला न समझकर राष्ट्र की उन्नायक शक्ति माना जाने लगा तब सभी उपेक्षित नारियों का व्यक्तित्व काव्य में उभरा। बुद्ध की पत्नी यशोधरा नल की पत्नी दमयन्ती नूरजहाँ रानी कामायनी आदि नारियों पर काव्य रचनाएं हुई। मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में उर्मिला और कैकेयी के भावों को नये रूप में चित्रित किया है। कैकेयी के मातृभाव की गुप्तजी ने सराहना की है। वह स्वयं पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर प्रेममयी माता बन गई है और राम से घर लौटने की याचना करती है।

'साकेत' में युग की समस्याओं का भी चित्रण है। इस ग्रन्थ में पुरानी परिपाटी के काव्य लक्षणों का पूरी तरह पालन न करके कवि ने नई शैलियों को अपनाया है। साकेत का 'नवम सर्ग' सम्पूर्ण काव्य का प्राण है।

खड़ीबोली में काव्य रचना द्विवेदी युग की प्रमुख विशेषता है। भाषा को परिमार्जित एवं सुव्यवस्थित करने का श्रेय द्विवेदी जी को है। 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक रूप मे उन्होंने हिन्दी साहित्य की बड़ी भारी सेवा की।

द्विवेदी युग के कुछ उच्च कोटि के कवियों की रचनाओं का साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है। श्यामनारायण पाण्डे की वीररसपूर्ण रचना 'हल्दीघाटी' सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' 'मिलन' 'पथिक' ठाकुर गोपालशरणसिंह की 'मानवी' सियारामशरण गुप्त के 'मार्या' 'विषाद' 'पाथेय' और श्री सोहनलाल द्विवेदी का 'सेवाग्राम' आदि काव्य सुन्दर और साहित्यिक रचनायें हैं। 'सेवाग्राम' मे द्विवेदी जी की राष्ट्रीय कवितायें संकलित हैं।

## छायावाद (१९२५-१९३२) –

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में अंग्रेजी शिक्षा संस्कृति और विचारों का जनता पर पूर्ण प्रभाव पड़ने लगा। भारत की पुरानी परम्परायें धीरे-धीरे टूटने लगीं या उनके प्रति नये लोगों में अरुचि उत्पन्न हो गई। सामाजिक राजनैतिक धार्मिक सभी क्षेत्रों में देश का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया। फलस्वरूप साहित्य में भी भाव और भाषा के क्षेत्र में नवीनता का समावेश हुआ। द्विवेदी युग के कवि नैतिकता समाजसुधार, राष्ट्रीयता आदि विषयों को लेकर रचनायें करते थे जिनमें साहित्यिकता कम उपदेश अधिक होते थे। यह साहित्य निजी भावों की अभिव्यक्ति न होकर देश काल और समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल

लिखा गया। अतः इसका अधिकांश भाग प्रचारात्मक और इतिवृत्तात्मक है। इसमें सरसता व मधुरता का अभाव है। नारीसौन्दर्य प्रेम कल्पना विलास स्वच्छंद भाव प्रकाशन आदि द्विवेदी युग में वर्जित से रहे। इन्हीं सब बातों के विपरीत नये युग के नव कवियों ने क्रांति की। छायावादी काव्य की भाषा भाव शैली व्यंजना सभी में क्रांति है। छायावादी काव्य के मुख्य विषय हैं सौन्दर्य और प्रेम। नव कवियों ने अपने हृदय के भावों को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है। आलंबन रूप में भी प्रकृति वर्णन छायावादी कवियों का प्रिय विषय है। छायावादी कविता में निराशा और दुःख के भाव अधिक व्यक्त किये गये हैं। वे संसार की जटिल बातों से घबराकर जगत् से दूर प्रकृति की गोद में या आकाश के सौन्दर्य में खो जाना चाहते हैं। इस काव्यधारा पर बँगला साहित्य और अंग्रेजी साहित्य का अधिक प्रभाव होने के कारण भाषा में एक नवीन लाक्षणिकता अलंकारों का नवीन प्रयोग गीतात्मकता आदि गुण आगये हैं। रहस्यवादी प्रवृत्ति का भी इस युग में पुनः प्रकाशन हुआ।

छायावाद नाम प्रारम्भ में उन रचनाओं को दिया गया जो अस्पष्ट और अव्यावहारिक थी और 'गीतांजलि' की नकल में लिखी गई थी। इसकी कटु आलोचना भी की गई किन्तु धीरे धीरे भावों की सुन्दरता भाषा-शैली की नवीनता और माधुर्य के कारण 'छायावाद' शब्द नवीन काव्यधारा के लिए ही प्रयोग किया जाने लगा। आज उत्तम रचनाओं और कुछ उच्च कोटि के कवियों के कारण छायावाद वर्तमान काल का 'स्वर्ण युग' कहलाता है।

इस युग के प्रसिद्ध कवि हैं जयशंकर प्रसाद सुमित्रानन्दन पंत महादेवी वर्मा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' रामकुमार वर्मा हरिवंशराय बच्चन भगवतीचरण वर्मा, रामनाथ सुमन मोहनलाल महतो वियोगी आदि। इनमें प्रथम चार कवि शुद्ध छायावादी माने जाते हैं।

प्रसाद की 'कामायनी' प्रबन्धकाव्य और 'आँसू' मुक्तक काव्य साहित्य की विभूति है। कामायनी में कवि ने आदि मानव मनु और

श्रद्धा की पौराणिक कथा को लेकर नवीन भावों की सृष्टि की है। इसमें श्रद्धा का महत्व प्रतिपादित किया गया है। भाषा और शैली की दृष्टि से 'कामायनी' अपने युग का उत्तम काव्य है।

सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाएं छायावादी प्रवृत्तियों की सर्वोत्तम उदाहरण हैं। सुख-दुख भाषा-निराशा के भावों की इनकी रचनाओं में बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। पंत की भाषा में लाक्षणिकता मधुरता और चमत्कारिकता है। आपकी रचनाओं में अध्यात्म तथा विज्ञान के समन्वय की चेष्टा तथा आधुनिक युग के अनुकूल नये समाज की रचना की कामना व्यक्त की गई है। अल्मोड़े के प्राकृतिक सौन्दर्य ने इनको प्रकृति की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया है अतः काव्य में प्रकृति चित्रण की प्रधानता है। युग के महापुरुष जैसे गांधी अरविन्द आदि के प्रति आपकी पूर्ण श्रद्धा है।

पन्त ने राष्ट्रीय विषयों पर भी रचनायें की हैं। महादेवी वर्मा छायावादी युग की मीरा हैं। आपके गीत अध्यात्मवादी भावनाओं से युक्त हैं। परमात्मा के विरह में आत्मा की व्याकुल वेदना का ही आपने वर्णन चित्रण किया है। छायावाद की रहस्यवादी प्रवृत्ति के वर्णन अर्थात् सम्पूर्ण जग के स्रष्टा सर्वव्यापी भगवान् के प्रति जीव की असीम के प्रति आसक्ति विरह जिज्ञासा आदि का चित्रण सर्वाधिक महादेवी की रचनाओं में ही हुआ है। उनकी 'बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं' तथा 'मैं नीर भरी दुख की बदली' आदि रचनायें रहस्य भावना से पूर्ण हैं। 'यामा' आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। भाषा में संगीत और माधुर्य है।

'निराला' युग के सबसे अधिक क्रांतिकारी कवि हैं। उन्होंने निर्भय होकर समाज की रूढ़ियों का खंडन किया है। आपने छंदों के बन्धन से कविता को मुक्त किया। 'छायावाद' के युग को प्रशस्त और उन्नत बनाने में आपका बड़ा हाथ है। 'निराला' की 'तुलसीदास' तथा 'राम की शक्ति पूजा' कविता श्रेष्ठ रचनायें हैं। इनके 'कुकुरमुत्ता' 'बेला' आदि

ाम्यों में पूँजीपतियों के प्रति तीव्र आक्रोश है। वे छायावादी होने के ाथ-साथ युग की आर्थिक विषमताओं से भी पूर्ण सचेत थे। इनकी मिगारी' तोड़ती पत्थर' 'इलाहाबाद के पथ पर' आदि कविताएं इन्हीं ावों को व्यक्त करती हैं।

इतनी सशक्त रचना करने वाला कवि अपने अन्तिम दिनों में व्याधि पीड़ित हो कुछ विक्षिप्त सा हो गया था। सन् ६२ में लम्बी बीमारी े बाद उनका देहावसान हो गया।

छायावादी युग के अन्य कवियों में डा० रामकुमार वर्मा का नाम सिद्ध है। महादेवी की भांति आपने भी रहस्यवादी रचनायें की हैं। श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन' व भगवतीचरण वर्मा का काव्य कुछ भिन्न कार का है। इसमें प्रेम प्रकृति व विद्रोह के भाव अधिक हैं। इन्होंने ड़ी ओजस्वी वाणी में शक्तिशाली रचनायें भी की हैं। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' 'नरेन्द्र शर्मा' भी इसी धारा के कवि हैं किन्तु इनकी रचनायें 'छायावादी' प्रवृत्तियों से बंधी नहीं हैं इन्होंने स्वतन्त्र शैली में स्वतन्त्र भाव प्रकट किये हैं। हरिवंशराय बच्चन की मधुबाला' 'मधुशाला आदि काव्य संग्रह जनता में बड़े प्रसिद्ध हैं। इन कविताओं के कारण लोगों ने 'हाला वाद' नाम से एक नया वाद ही प्रचलित कर दिया। 'एकान्त संगीत' 'मिया निमन्त्रण, आदि मुक्तक काव्यों में 'बच्चन' ने अपने मनोभावों को सुन्दर और प्रभावशाली रूप में व्यक्त किया है। इनकी भाषा सरल किन्तु भावमयी है।

संक्षेप में 'छायावादी काव्यधारा के कवि अपने आपमें लीन होकर निजी भावों को ही काव्य रूप मे प्रकट करते रहे। अपने सुख-दुख के परे उन्हें जगत् की चिन्ता नहीं थी। आकाश के तारे, चन्द्र सागर की लहरें, पृथ्वी के कुसुम तितली तथा पहाड़ उन्हें अधिक आकर्षित करते थे मनुष्य कम। छायावाद का अधिकांश काव्य कल्पना की भित्ति पर खड़ा है। इसीलिए शीघ्र ही इसका विरोध आरम्भ हुआ और जनता के सुख

युग की वाणी को मुखरित करने वाली 'प्रगतिवादी' धारा का प्रचार हुआ।

प्रगतिवाद (१९३५ १९४५) –

प्रगति का सामान्य धर्म है आगे बढ़ना या काव्य जन-जीवन को किसी रूप में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है वह प्रगतिशील है। इस धर्म में प्रत्येक युग की कविता अपने पिछले युग से किसी न किसी रूप में प्रगतिशील होती है। पुरानी परंपराओं को त्यागकर काव्य में जब किन्हीं नये विषयों नये भावों और नई शैली का प्रतिपादन होने लगता है तभी कविता प्रगतिशील हो जाती है। किन्तु हिन्दी की प्रगतिवादी काव्य धारा प्रगति के उपयुक्त सामान्य धर्म को धारण करती हुई भी एक भिन्न प्रकार की प्रगति का लक्ष्य लेकर प्रारम्भ हुई अत इसी को 'प्रगतिवादी' संज्ञा दी गई। 'प्रगतिवादी' म प्रगति का धर्म है मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिक दृष्टि से जगत् को देखना वर्ग संघर्ष को तीव्र करना शोषितों का पक्ष लेना और वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना। प्रगति के इस धर्म को दृष्टि में रखकर जो रचनायें हुई वे 'प्रगतिवादी' कहलाई। इसके विपरीत जिन कवियों ने इन सिद्धांतों स प्रभावित होकर भी इन्हीं विषयों तक अपने को सीमित न रखकर सर्व सामान्य रूप से समाज को प्रगति की ओर ले जाने वाली रचनायें की वे प्रगतिशील कहलायीं। इस प्रकार 'प्रगतिवादी' और प्रगतिशील कवियों के दो भिन्न वर्ग माने जाते हैं। भारत भूषण अग्रवाल केदारनाथ अग्रवाल रामविलास शर्मा नरेन्द्र शर्मा शिवमंगलसिंह सुमन भारती प्रसादसिंह 'अचल' शमशेर भारती रांगेय राघव आदि कवियों ने प्रारम्भ में प्रगतिवादी रचनायें की और सुमित्रा नन्दन पन्त निराला दिनकर, बच्चन बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि मैं प्रगतिशील। किन्तु धीरे-धीरे यह अन्तर मिटता गया। आज सभी कवि प्रगतिशील हैं, प्रगतिवादी धारा लुप्त प्राय हो गई है। सन् ४५, ४६ के बाद से ही इसका प्रभाव क्षीण होने लगा था।

सन् १९२० के पश्चात् हिन्दी में जिस प्रकार छायावादी कविताओं की धूम थी जिसमें प्रत्येक नवयुवक कवि किसी कल्पित या वास्तविक प्रियतमा के विरह में आँसू बहाना आहें भरना और रजनी तारे, नौका चाँदनी आदि से मन बहलाना आवश्यक समझता था उसी प्रकार सन् १५ के बाद हिन्दी में प्रगतिवादी रचनाओं की धूम मची जिसमें प्रत्येक प्रगतिवादी कवि शोषकों के लिये घृणा प्रकट करना शोषितों की क्रान्ति का राग गाना, साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा हँसिया हथौड़ा और लाल रूस लाल निशान आदि का प्रयोग करना अनिवार्य मानने लगा था। उदाहरण के लिये प्रगतिवादी कवियों की कुछ कवितायें प्रस्तुत हैं —

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मंडराते था
सभी पास की ढेरी पर लाला जी घात लगाते था।
ब्याज चुकाते ही न जवानी गई असीम अभागों की
लाल रूस है ढाल साथियो सब मजदूर किसानों की।
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का
दुश्मन है सब मजदूरों का दुश्मन सभी किसानों का।

— नरेन्द्र शर्मा

धुओं की सड़ी भट्ठियों को कुचलती,
लहर की लहर सी लहरती मचलती
अंधेरी निशा में मशालों सी जलती
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।
समाजी विषमता की नींवें मिटाती
गरीबों की दुनियाँ में जीवन जगाती
अमीरों की सोने की लंका जलाती
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।

— शिवमंगलसिंह सुमन

हाथ हथौड़ा लिये हुए हैं,
हमें हटा सकता है कौन ?
लोहे की दीवार हमारी –
हमें हिला सकता है कौन ?
काटो काटो काटो करबी,
मारो मारो मारो हँसिया ।

– केदारनाथ अग्रवाल

समस्त प्रगतिवादी काव्य में इसी प्रकार के विषयों की प्रधानता है। ये कवि काव्य को अपने मत प्रचार का साधन मान कर चले हैं अत इनकी भाषा-शैली में लालित्य कम सहजता और सरलता अधिक है। इनकी रचनायें वर्णनात्मक हैं जिनमें किसानों मजदूरों तथा अन्य निम्न वर्ग के यथार्थ जीवन चित्रित है। इस प्रकार के विषयों के लिये रस अलंकारों से सज्जित भाषा की आवश्यकता नहीं होती। प्रगतिवादी विचार धारा की ओर उन्मुख होते ही छायावादी भाषा सौन्दर्य के जनक श्री सुमित्रानन्दन पन्त को यह कहने के लिये विवश होना पड़ा ।

तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार,
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिये अलंकार ।

प्रगतिवादी काव्य जनसाधारण का काव्य है। इसके व्यापक प्रचार के लिये भाषा की सरलता प्रतीकों की नवीनता उपमा और अलंकारों में परिवर्तन परम आवश्यक था। इन कवियों ने जनसाधारण में प्रचलित ग्रामीण शब्दों को अपनाने का प्रयत्न किया। जैसे जगा बेना बादुर, हाइत कुदाइत बिसरना आदि। उपमाओं में भी नवीनता है। यथा –

(१) हँसे सी बड़ी बड़ी आँखें। —केदारनाथ
(२) कोयले के खान सी मजदूरनी सी रात। —रांगेय राघव
(३) लहू की बूँदों-से जलते हैं बिजली के
बल्ब सूनी सड़कों पर लाल-लाल। —रामविलास शर्मा
(४) दो लालटेन से नयन दीन। —मुक्तिबोध

इस काव्यधारा में कमल मीन खंजन आदि की उपमायें बुर्जुआ संस्कृति की प्रतीक मानी गईं क्योंकि इन से धनिक वर्ग ज्यादा परिचित है, गरीब, मजदूर नहीं। जनवादी काव्य में उन वस्तुओं की उपमा दी जानी चाहिये जो दिन रात आँखों के सामने रहती हैं या जिनसे हमारा चिर परिचय है अथवा जो हमारी परंपरागत मानसिक भावनाओं को परिवर्तित करने में समर्थ हों।

प्रगतिवादी कविता में सौन्दर्य के मान भी परिवर्तित हो गये। इस युग की सौन्दर्य भावना जनहित पर आधारित है। पुरातन सौन्दर्य के स्थान पर समस्त असुन्दर और अशेष कही जाने वाली वस्तुओं में प्रगतिवादी कवि की दृष्टि ने सौन्दर्य खोजा है।

प्रगतिवादी काव्य की मुख्य विशेषता है सामयिक जन-जीवन की अभिव्यक्ति। यद्यपि अन्य युगों में भी समाज की विविध समस्याओं का चित्रण किया गया है किन्तु निम्न मध्य वर्ग के इतने व्यापक हित को दृष्टि में रखकर काव्य रचना इससे पहले नहीं हुई। सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक धार्मिक सभी विषयों पर बड़ी व्यंग्यात्मक और चुभती हुई रचनायें इस धारा के कवियों ने की हैं। यदि ये कवि केवल मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित न होकर शुद्ध जनवादी दृष्टि से काव्य रचना करते तो इनका महत्व साहित्य में सबसे ऊँचा होता क्योंकि भाषा, भाव विषय और शैली की दृष्टि से यह काव्य पाठकों की सर्वाधिक संख्या को आकर्षित करने में समर्थ है। बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास के साथ व्यंग्य और हास्य की प्रवृत्ति से भरपूर इस काव्य की उपयोगिता कम नहीं है। स्वतंत्रता के पूर्व और स्वतंत्रता के बाद प्रगतिवादी काव्य ने देश की जागृति में तथा अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने में सराहनीय कार्य किया है। स्वतंत्र भारत की सरकार के झूठे आश्वासनों पर लोकगीत की तर्ज में लिखा हुआ यह व्यंग्य कितना चुभता हुआ है –

जाने क्या क्या है छुपा हुआ सरकार तुम्हारी आँखों में।
झलका करता है राम राज्य का प्यार तुम्हारी आँखों में।
गोरा लगता है अब काला बाजार तुम्हारी आँखों में।

किन्तु प्रगतिवादी कवियों ने समस्त भारतीय परंपराओं को मिटा कर मार्क्सवादी ढंग पर नये समाज की रचना का स्वप्न देखा जो इस भूमि के लिये अनुपयुक्त था। लोगों को इसमें प्रचार की गन्ध मिली वे इसे खुले हृदय से नहीं अपना सके। दूसरी बात यह कि काव्य में केवल सामयिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण ही महत्वपूर्ण नहीं होता उसकी सार्थकता सम्पूर्ण जीवन को अपनाकर चलने में होती है। रोटी और भूख का राग मनुष्य को थोड़े समय तक सुन्दर लग सकता है सदा इसका राग कर्णकटु प्रतीत होने लगता है।

एक बँधी सीमा में प्रवाहित होने के कारण थोड़े समय पश्चात् प्रगतिवादी काव्य धारा धीमे धीमे क्षीण होती गई। छायावादी काव्य के बँधे प्रतीकों और निराशात्मक तथा वेदनात्मक भावों की पुनरावृत्ति से जैसे पाठक ऊबने लगे थे वैसी ही स्थिति प्रगतिवादी धारा की हुई। शोषितों के प्रति अभिव्यक्त कवियों की बौद्धिक सहानुभूति का रंग बहुत दिनों तक स्थाई नहीं रह सका। उसकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। काव्य में पुनः स्वच्छन्द स्वतंत्र भावों की अभिव्यक्ति कवियों का ध्येय बनी और नित्य नये प्रयोग प्रारम्भ हुए।

### प्रयोगवाद नई कविता ( १९४५ से अब तक ) —

प्रगतिवाद के साथ ही हिन्दी में एक और नई काव्यधारा का प्रादुर्भाव हुआ जो 'प्रयोगवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रारम्भ में विषय वस्तु की दृष्टि से इस काव्य में कोई विशेष नवीनता नहीं थी, इसके प्रमुख कवि प्राय वही थे जो प्रगतिवादी रचनायें करते थ किन्तु शैली की पर्याप्त नवीनता के कारण इसको पृथक नाम दिया गया। बाद में यह धारा स्वतंत्र काव्य के रूप में मानी जाने लगी। सन् १९४३ में

'अज्ञेय' जी ने कुछ कवियों की रचनाओं में नवीन शैलियों का आश्रय पाकर उनका एक संग्रह 'तारसप्तक' के नाम से प्रकाशित किया। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि– "संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं–जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।" इस कथन में प्रयुक्त 'प्रयोग' शब्द के प्रयोग से नई शैली में रचना करने वाले कवि प्रयोगवादी कहलाये और उनकी रचनायें 'प्रयोगवाद'। इस प्रकार अज्ञेय प्रयोगवाद के प्रथम प्रारम्भ कर्ता कवि और आलोचक माने जाते हैं। प्रथम 'सप्तक' में जिन प्रयोगवादी कवियों की रचनायें संगृहीत हुई उनके नाम हैं, गजानन माधव मुक्तिबोध नेमिचन्द्र जैन भारतभूषण अग्रवाल प्रभाकर माचवे डा रामविलास शर्मा 'अज्ञेय' और गिरिजाकुमार माथुर। 'अज्ञेय' जी के शब्दों में इन कवियों ने "भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से छोटे बड़े टाइप से सीधे या उलटे अक्षरों से लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से–सभी प्रकार के इतर साधनों से" यह चेष्टा की कि 'अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सकें।"

कवियों ने इस प्रकार के नये प्रयोग करने क्यों प्रारम्भ किये इस जिज्ञासा का स्पष्टीकरण एवं समाधान करते हुए अज्ञेयजी ने भूमिका में लिखा कि 'बहुत से लोग इस बात को भूल गए हैं कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक अधिक सार-गर्भित अर्थ भरना चाहता है–और अहंकार के कारण नहीं इसलिये कि उसके भीतर इसकी गहरी मांग स्पन्दित है इसलिये कि वह 'व्यक्ति सत्य' को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है पर देखना है कि साधारणी

भाषा से ही मरकर और कमकर मुक्त होगई है प्राण संचार का मार्ग उनमें नहीं है।

एक नये प्रयोगवादी कवि ने शब्दों के पुराने पदों को अपने अन्तर में कुलबुलाती हुई नई व्याकुलता और वेदना की अभिव्यक्ति में असमर्थ पाकर लिखा है -

प्रश्न अभिव्यक्ति का
मित्र !
किसी मर्मस्पर्शी शब्द से
या क्रिया से
मेरे भावों अभावों को मेरो
प्रेरणा दो !

मूक !
असहाय !!
अभिव्यक्तिहीन !!!
मैं जो कवि हूं
भावों अभावों के पाटों में पड़ा हुआ
एकाकी दाने-सा
कब तक जीता रहूंगा ?
कब तक कमरे के बाहर पड़े हुए गर्द कोरे सा
जीवन का यह क्रम चलेगा ?
कब तक जिन्दगी की गर्द पीता रहूंगा

प्रश्न अभिव्यक्ति का है मित्र !
ऐसा करो कुछ
जो मेरे मन में कुलबुलाता है
बाहर आजाये।
शान्ति आ जाय।

— दुष्यन्त कुमार

अभिव्यक्ति के इस प्रश्न ने कवियों को नये प्रयोगों के लिये विवश किया है। उनके 'शब्द' कविता माँ! से नयी अभिव्यक्ति और नये अर्थ पाने के लिये याचना करते हैं —

शब्द नामधारी
सारे के सारे युवक, प्रौढ़ औ बालक
एक तुम्हारे इंगित की कर रहे प्रतीक्षा
चाहे जिधर मोड़ दो
कोई उजर नहीं है–
ऊँची नीची राहों में
या उन गलियों में
जहाँ खुशी का गुजर नहीं है
लेकिन मंजिल तक पहुँचा दो, ओ कविता माँ!
किसी छन्द में बाँध
विजय का कवच पिन्हा दो ओ कविता माँ!
धूल धूसरित
हम कि तुम्हारे ही बालक हैं
हमें निहारो!
अंक बिठाओ,
शक्ति जगाओ ओ कविता माँ।

—दुष्यन्त कुमार

कविता माँ ने मानो इन प्रयोगवादी कवियों के 'शब्दों' की पुकार सुनकर उन्हें नये रूप-रंग और नये अर्थों में प्रयोग करने की प्रेरणा दी है। इसीलिये यह काव्यधारा अपनी पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न तत्त्वों से नये प्रयोग नये अर्थ नये भाव और नये रूप लेकर आई है। इस काव्य में भाषा शैली की नवीनता तो है ही विषयवस्तु और विचार शैली में भी नवीनता और प्रयासशीलता है। प्रयोगवादी कवियों ने बुद्धत्व, परंपरागत प्रकृति पर सोचना विचारना छोड़ दिया

प्रवृत्तियों में अन्तर दिखलाते हैं किन्तु किसी साहित्य विधि के प्रारम्भिक और विकसित रूप में जो अन्तर होता है प्रायः वही अन्तर प्रयोगवाद और नई कविता में है। दोनों में भिन्नता कम समानता अधिक है। प्रयोगवादी कवि ही अब नये कवि कहलाते हैं।

नई कविता की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ हैं व्यक्तिवाद निराशावाद नग्न यथार्थ अतिबौद्धिकता उपमानों की नवीनता मरेस का चित्रण और तीक्ष्ण व्यंग्य-हास्य।

नये युग की सामाजिक आर्थिक, वैज्ञानिक राजनैतिक धार्मिक सम स्याओं ने मनुष्य की आस्था विश्वासों को जड़ मूल से विनष्ट कर दिया है। वह हर क्षेत्र में अपने आप को असोम्य अनफिट पाता है। इसीलिये आज का कवि कविता में विघटित मानव मूल्यों का चित्रण अधिकता से करता है। धर्मवीर भारती मानते हैं —

हम सब के दामन पर दाग हम सब की आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म हम सब हाथों में टूटी तलवारों की मूठ।

कवि कुंवर नारायण अपने जीवन को चक्रव्यूह में फँसे अभिमन्यु के रूप में देखते हैं —

मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया……बदन पर टूटा कवच
सारी देह क्षत विक्षत…

मैं बलिदान उस संघर्ष में कटु व्यंग्य हूँ उस तर्क पर
जो जिन्दगी के नाम पर हार गया।

नई उपमाओं नई व्यंजना और नये प्रयोगों के लिये तो नई कविता बहुचर्चित है। कवियों ने ऐसे-ऐसे प्रयोग किये हैं जिनसे साधारणीकरण होता हो या नहीं कवि की सूझ और चमत्कारिक बुद्धि पर हँसी अवश्य आजाती है। नये उपमानों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(१) कमरे के लैम्प-सी हैं आँखें बुझी हुई
जिनसे कम्बख्त लाउडस्पीकर से
जिनके मुख निरन्तर खुले हैं।

(२) देखलो नजरें उठा
कितना बड़ा हूँ मैं
पापरे का ताज
यह व्यक्तित्व मेरा
काँच की दीवार
यह अस्तित्व मेरा है।

(३) प्यार का नाम लेते ही
बिजली का स्टोव सी
जो एक दम सुर्ख हो जाती है।

(४) दूर क्षितिज पर महलों की दीवार खड़ी है।
जिस पर चढ़कर सूरज का शैतान छोकरा
झाँक रहा है।

(५) पार्सेट के बस्ते सी यह दोपहर नवम्बर की

उपमानों की भाँति छन्दों लयों में भी नया कवि अपने नये प्रयोग करता है। कहीं लम्बी कहीं छोटी पंक्तियों द्वारा कहीं विराम संकेतों से वह अपने भाव पाठकों तक पहुँचाना चाहता है। सब प्राचीन निरर्थक है। नया कवि कहता है:-

जल रही प्राचीनतायें बीच छाती पर मरण का एक दाग।
इस अंधेरे की पुरानी खोपड़ी को देखकर
आ रही ऊपर नये युग की किरण

— हरिनारायण व्यास

नई कविता के पक्ष और विपक्ष दोनों पर ही बहुत बड़ी बड़ी गम्भीर विवेचनाएँ हो रही हैं। आज का आलोचना साहित्य इन विवेचनाओं से

भरपूर दिखाई देता है। नई कविता का भविष्य क्या है यह तो बतायेगा किन्तु इस में सन्देह नहीं कि प्रयोगवाद या नई कवित सामान्य की पाठ्य सामग्री न होकर एक वर्ग विशेष की वस्तु है। इन में व्यक्त भाव प्राय: अस्पष्ट होते हैं। कवि अपनी बु काँट छाँट अधिक न करके सरस साहित्य रचना की ओर अधिक दें तो यह काव्य धारा अधिक उपयोगी और दीर्घ जीवी हो सकत नई कविता के प्रसिद्ध कवि हैं —

सच्चिदानंद हीरानन्द वात्सायन अज्ञेय मुक्तिबोध प्रभाकर धर्मवीर भारती शकुन्त माथुर, गिरजाकुमार माथुर नागार्जुन प्रसाद मिश्र कुंवरनारायण भारतभूषण अग्रवाल केदारनाथ अ देवराज डा० रामविलास शर्मा नरेश मेहता विजयनारायण देव दुष्यंतकुमार, आदि।



भरपूर दिखाई देता है। नई कविता का भविष्य क्या है यह तो समय बतायेगा किन्तु इस में सन्देह नहीं कि प्रयोगवाद या नई कविता सर्व सामान्य की पाठ्य सामग्री न होकर एक वर्ग विशेष की वस्तु बन गई है। इन में व्यक्त भाव प्रायः अस्पष्ट होते हैं। कवि अपनी बुद्धि की काँट छाँट अधिक न करके सरल साहित्य रचना की ओर अधिक ध्यान दें तो यह काव्य धारा अधिक उपयोगी और दीर्घ जीवी हो सकती है। नई कविता के प्रसिद्ध कवि हैं —

सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय मुक्तिबोध प्रभाकर माचवे धर्मवीर भारती शकुन्त माथुर, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन भवानी प्रसाद मिश्र कुँवरनारायण भारतभूषण अग्रवाल केदारनाथ अग्रवाल देवराज डा० रामविलास शर्मा नरेश मेहता विजयनारायण देव साही दुष्यंतकुमार, आदि।

---